भारतीय ज्ञानपीठ काशी
ज्ञानपीठ-ग्रन्थागार
"ज्ञानं प्रकाशकं"

कृपया—

(१) गीले हाथोंसे पुस्तकको स्पर्श न कीजिये। जिल्दपर काग़ज़ चढ़ा लीजिये।

(२) पन्ने सम्हालकर उलटिये। थूकका प्रयोग न कीजिये।

(३) निशानीके लिये पन्ने न मोड़िये, न कोई मोटी चीज़ रखिये। काग़ज़का टुकड़ा काफ़ी है।

(४) हाशियोंपर निशान न बनाइये, न कुछ लिखिये।

(५) खुली पुस्तक उलटकर न रखिये, न दोहरी करके पढ़िये।

(६) पुस्तकको समयपर वापस लौटा दीजिये।

"पुस्तकें ज्ञानकणमयी हैं, इनकी विनय कीजिये"

सौ० सवितावाई स्मारक ग्रन्थमाला नं० ४.

संक्षिप्त जैन इतिहास।

द्वितीय भाग-द्वितीय खंड।

लेखकः—

श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी जैन एम. आर. ए. एस.

ऑ० संपादक 'वीर' और जैन ऐन्टिक्वेरी तथा भगवान पार्श्वनाथ,
भगवान महावीर, सत्यमार्ग, लॉर्ड महावीर, चेतना आदि
ग्रन्थोंके रचयिता।

प्रकाशकः—

मूलचंद किसनदास कापड़िया,
संपादक "दिगंबर जैन" व मालिक दिगंबर जैन पुस्तकालय,
कापडियाभवन—सूरत।

स्वर्गीय सौ० सवितावाई, धर्मपत्नी मूलचंद किसनदास
कापड़ियाके स्मरणार्थ 'दिगंबर जैन' के २७वें
वर्षके ग्राहकोंको भेंट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४६० [प्रति १०००

मूल्य—रु. १-२-०।
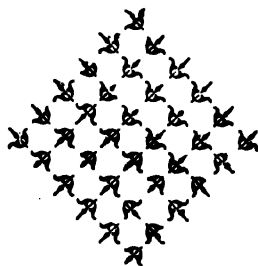
''जैनविजय'' प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचंद किसनदास
कापड़ियाने मुद्रित किया।

सौ० सविताबाई- -स्मारक ग्रंथमाला नं.४

हमारी धर्मपत्नी सविताबाईका स्वर्गवास सिर्फ २२ वर्षकी युवान वयमें एक २ पुत्र-पुत्रीको छोडकर वीर सं० २४५६ में हुआ तब हमने उनके स्मरणार्थ २०००) इस लिये निकाले थे कि यह रकम स्थायी रखकर इसके सूदसे 'सविताबाई स्मारक ग्रन्थमाला' प्रतिवर्ष निकाली जाय और उसका "दिगंबर जैन" या जैन महिलादर्श द्वारा विना मूल्य प्रचार किया जाय।

इस प्रकार यह ग्रन्थमाला चालु होकर आज तक निम्नलिखित ग्रन्थ इस मालामें प्रकट हो चुके हैं—

१—ऐतिहासिक स्त्रियाँ।

२—संक्षिप्त जैन इतिहास द्वि० भाग प्र० खंड।

३—पंचरत्न।

और चौथा यह सं० जैन इतिहास द्वि० भाग-दू० खंड प्रकट किया जाता है और 'दिगम्बर जैन' के २७ वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें दिया जाता है।

जैन समाजमें दान तो अनेक भाई बहिन निकालते हैं परंतु उसका यथेष्ट उपयोग नहीं होता। यदि उपरोक्त प्रकारके दानकी रकमको स्थायी रखकर स्मारक ग्रंथमाला निकाली जानेका प्रचार हो जावे तो जैन समाजमें अनेक जैन ग्रन्थोंका सुलभतया प्रचार हो सकेगा।

वीर सं० २४६०
ज्येष्ठ सुदी ६.

मूलचंद किसनदास कापडिया।
संपादक, दिगम्बर जैन-सूरत।

भूमिका।

कुछ समयसे जैन संप्रदायके कई विभागोंमें अहिंसावादने ऐसा भ्रान्त रूप धारण कर लिया है कि लोगोंकी दृष्टिमें वह उपहासास्पद होरहा है। इसी भ्रमको दूर करनेके लिये यह "संक्षिप्त जैन इतिहास" लिखा गया है। इसे हम उक्त संप्रदायकी जागृतिका शुभ लक्षण अनुमान करते हैं।

यद्यपि "संक्षिप्त जैन इतिहास" के इस खण्डमें प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्रीके साथ साथ 'जैन कथाओं' और 'जनश्रुतियों' का उपभोग किये जानेसे अनेक स्थलोंपर मतभेद होनेकी सम्भावना भी होसकती है, तथापि इसमें इतिहास—प्रेमियोंके और विशेषकर जैन संप्रदायके अनुयायियोंके मनन करनेके लिये बहुत कुछ सामग्री उपस्थित कीगई है। इसके अलावा इसकी लेखनशैली भी संकुचित सांप्रदायिकताकी मनोवृत्तिसे परे होनेके कारण समयोपयोगी और उपादेय है। हम, इस सुन्दर संक्षिप्त इतिहासको लिखकर प्रकाशित करनेके लिये, श्रीयुत बाबू कामताप्रसादजी जैनका हृदयसे स्वागत करते हैं। इस इतिहासके पूर्ण होनेपर हिन्दी भाषाके भंडारमें एक ग्रन्थरत्नकी वृद्धि होनेके साथ ही जैन संप्रदायका भी विशेष उपकार होगा।

आशा है इस इतिहासके द्वितीय संस्करणमें इसकी भाषाको और भी परिमार्जित करनेका प्रयत्न किया जायगा।

आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट,
जोधपुर। } विश्वेश्वरनाथ रेउ।

लीजिये।

प्रिय मित्र प्रॉ० हीरालालजी !
अपने प्रिय विषयकी यह
एकमात्र कृति-प्रेम-
भेंट स्वीकार
कीजिये;
और
इससे भी सुन्दर—
श्रेष्ठ स्वकीय कृतिसे
साहित्य-उद्-
नको समुन्नत
बनाइये।

—कामताप्रसाद जैन।

आभार।

"संक्षिप्त जैन इतिहास" के दूसरे भागका यह दूसरा खण्ड पाठकोंके हाथमें देते हुए हमें हर्ष है। ऐसा करनेमें हमारा एकमात्र उद्देश्य ज्ञानोद्योत करना है। इसलिए हमें विश्वास है कि पाठकगण हमारे इस सद्प्रयाससे समुचित लाभ उठावेंगे और भारतीय जैनोंके पूर्व गौरवको जानकर अपने जीवनको समुन्नत बनानेके लिए उत्साहको ग्रहण करेंगे। इस ग्रन्थनिर्माणमें हमें बहुतसे साहित्यकी प्राप्ति और सहायता हमारे मित्र और इस ग्रंथके सुयोग्य प्रकाशक श्रीयुत सेठ मूलचंद किसनदासजी कापड़िया; अध्यक्षगण, श्री इम्पीरियल लायब्रेरी कलकत्ता और जैन ओरियंटल लायब्रेरी आरासे हुई है, जिसके लिये हम उनका आभार स्वीकार करते हैं। प्रूफ-संशोधन आदि कार्य कापड़ियाजीने स्वयं करके जो हमारी सहायता की है, वह हम भूल नहीं सक्ते। उसके लिये भी कापड़ियाजी धन्यवादके पात्र हैं।

श्रीमान् साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथजी रेउ, एम० आर० ए० एस०, क्यूरेटर, सरदार म्युजियम–जोधपुरने इस खंडकी भूमिका लिखनेकी कृपा की है, हम उनके इस अनुग्रहके लिये उपकृत हैं।

इतिहासके प्रस्तुत खंडमें हमने वर्णितकालकी प्रायः सब ही मुख्य घटनाओंको प्रगट करनेका प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक

वार्तके साथ जनश्रुतियों और कथाओंका भी समावेश हमने इस भावसे कर दिया है कि आगामी ऐतिहासिक खोजमें वह संभवतः उपयोगी सिद्ध हों। किन्तु जो बात मात्र जनश्रुति या कथा ही पर अवलम्बित है, उसका हमने स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख कर दिया है। इसलिए किसी प्रकारका भ्रम होनेका भय नहीं है। इतनेपर भी हम नहीं कह सक्ते कि इस खंडमें वर्णितकालकी सब ही घटनाओंका ठीक-ठीक उल्लेख हुआ है। पर जो कुछ लिखा गया है वह एकमात्र ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे। अतः संभव है कि किन्हीं स्थलोंपर मत-भेदका अनुभव प्रबुद्ध पाठक करें। ऐसे अवसरपर निष्पक्ष तर्क और प्रमाण ही कार्यकारी होसक्ते हैं। उनके आलोकमें समुचित सुधार भी किये जासक्ते हैं। इस दिशामें कर्मशील होनेवाले समालोचकोंका आभार हम पहले ही स्वीकार किये लेते हैं।

जसवन्तनगर (इटावा)
२४ मई १९३४

विनीत—
कामताप्रसाद जैन।

जैन समाजमें ऐतिहासिक खोजपूर्ण पुस्तकोंके सुप्रसिद्ध लेखक–श्री० बा० कामताप्रसादजी जैन कृत–"संक्षिप्त जैन इतिहास दूसरा भाग–प्रथम खंड" तीसरे वर्ष हमने प्रकट किया था और इस वर्ष यह दूसरे भागका दूसरा खंड प्रगट किया जाता है जिसमें इस्वीसन् पूर्व २५० वर्षसे इस्वीसन् १३०० तकका जैनोंका प्राचीन इतिहास संक्षिप्त रूपसे वर्णित है। बा० कामताप्रसादजीकी ऐतिहासिक खोजकी हम कहांतक प्रशंसा करें! आज जैन समाजमें तुलनात्मक दृष्टिसे जैन इतिहासकी खोज करने व उसको प्रकाशमें लानेवाले यह एक ही व्यक्ति हैं। यदि आपकी लेखनीको उत्तेजित की जाय तो आपके द्वारा और भी अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे व प्रकट किये जा सकेंगे।

यह ग्रन्थ 'दिगम्बर जैन' (सूरत) के २७ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंटमें दिया जायगा तथा जो 'दिगंबर जैन' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थका अच्छा प्रचार होगा।

–प्रकाशक।

विषयसूची।

शुद्धयाशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	३	जनश्रति	जनश्रुति
,,	,,	अवज्ञात	अवगत
४	१५	मूर्तियाँ	मूर्तियों
४	२२	1932	1932, pp. 159-160
,,	२४	इंटिका०	इंहिका०
६	१६	ऋतु	ऋतु
,,	22	Salisaka	Salisuka
7	22	Jain Antiquary	×
११	१४	'मिलिन्दपाह'	'मिलिन्द-पण्ह'
१४	६	कालाचार्य	काल्काचार्य
,,	२३	आगे पढ़ो 'पृ० २३३	व Ancient India, p. 143.
१५	१	'शाउनानुशाउ'	'शाहनानु शाह'
१८	१८	मंदिरादि	मंदिरादिको
२०	२२	२८९	२४९
21	16	Jabors Jbors.	XVI. P. 249.
२४	१९	४५९	४५-४५९
२६	२	रुद्रसिंह	रुद्रसिंहका
३४	२०	की थी।	रक्खी थी।
३६	१७	गये	×
38	9	Demeterioo	Demeterios
४३	२	जनपद	जानपद
४६	१	ममा	मना
५०	५	जाडगढ़	जाउगढ़
५१	१९	शीलारेख	शिलालेख

५२	३	और	×
५४	११	विरुद्ध	विरुद
५७	१७	नागवंश	नागवशी
६०	२२	५५–५६	५२–५६
६३	१५	शास्त्रोंको	शास्त्रोंके
,,	२०	नहपानको	×
६४	५	किशा	किया
,,	२२	२७५–२७९	२७८–२७९
६५	२१	१८	१८ वें
70	21	Shulbhadra's	Sthulbhadra's

७४ १७ 'कठिन है' शब्दके आगे पढ़ो "मूलमें दिगंबर जैनी अपने प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ'से ही प्रसिद्ध रहे। श्वेतांबर अपनेको 'श्वेतपट' कहते थे, परन्तु दिगंबर तब 'निर्ग्रंथ' नामके ही अभिहित थे; जैसे कि कादंबर वंशी राजाओंके ताम्रपत्र आदिसे प्रगट है।"

७४	१९	(१४८–४९)	(१। ४८–४९)
७६	२३	भूमूर्ति	मूर्ति
,,	,,	सेषित	से भूषित
७८	१५	वर्णनने	वर्णनसे
८०	१०	प्रन	उन
,,	19	Mathera	Mathura
८१	११	तथापि	तथा
८६	७	भी	श्री
८८	१६	होना	होता
,,	१९	२७९७	२७९)
९७	१५	वण्णदेव	वप्पदेव
९८	१	मह्लिषेषण	मह्लिषेण

९९	१	जैनधर्म भी	जैनधर्म
,,	३	उसमें भी	उसमें
,,	३	घरोंके	घरोंसे
९९	१७	उपर	अपर
,,	१४	सरकारी	यद्यपि सरकारी
,,	१५	किंतु....आया है।	×
१०३	१६	कल्किा	कल्किका
,,	२०	उसका	उसका
,,	२३	भा०·५२२	भा० १३ पृ० ५२२
१०७	४	संस्थामें	संस्थायें
१०८	२३	पृ० ६७१	कंजाएइं पृ० ६७१
१०९	२१	१-१२	१-७२
११५	३	निर्मित	निर्मित हुआ
११६	२२	सबलसंघेहिं	सयलसंघेहिं
१२१	१३	श्रीम्बर	धीश्वर
,,	२४	११९	११४
१२५	११	आरप्था	आप्पा
१३३	४	तत्कालीक	तात्कालीन
१३८	२३	२	१
१४५	२२	८९	८४
१४७	१९	सचमुख	सचमुच
,,	२१	२९२	२४२
१५३	१९	ज्ञानावर्णव	ज्ञानार्णव
१५५	२२-२३	भाप्राए०	भाप्रारा०
१७४	२२	६-७-८	६ अंक ७-८
१७७	२१	एडिनेबा०	एडिंजेवा०
१८१	८	शास्त्रविद्या	शस्त्रविद्या

संकेताक्षर सूची।

प्रस्तुत ग्रंथके संकलनमें निम्न ग्रन्थोंसे सहायता ग्रहण की गई है, जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है—

अध०=अशोकके धर्मलेख-लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० (काशी, सं० १९८०)।

अहिइ०='अर्ली हिस्ट्री आफ इन्डिया'-सर विंसेन्ट स्मिथ एम० ए० (चौथी आवृत्ति)।

अशोक०='अशोक' ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए०।

आक०='आराधना कथाकोष' ले० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र ऑफिस, सुरत)।

ऑजी०=आजीविक्स-भाग १ डॉ० वेनी माधव बारुआ० डी० लिट् (कलकत्ता १९२०)।

आसू०='आचाराङ्ग सूत्र' मूल (श्वेताम्बर आगम ग्रंथ)।

अहिइ०=ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इन्डिया-विंसेन्ट स्मिथ एम.ए.।

इंऐ०=इन्डियन ऐन्टीक्वेरी (त्रैमासिक पत्रिका)।

इरिई०=इन्सायक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स हेस्टिंग्स।

इंसेजै०='इन्डियन सेक्ट ऑफ दी जैन्स' बुल्हर।

इंहिक्वा०=इंडियन हिसटोरीकल क्वार्टर्ली-सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ लॉ-कलकत्ता।

उद०='उवास गदसाओ सुत्त०'-डा० हार्णले (Biblo Indica).

उपु०व०उ.पु.='उत्तरपुराण' श्री गुणभद्राचार्य व पं.लालारामजी।

उसू०='उत्तराध्ययन सूत्र' (श्वेताम्बरीय आगम ग्रंथ) जार्ल कार्पेंटियर (उपसला)।

एइ०='एपिग्रेफिया इंडिका'।

एइमे० या मेएइ०=एन्शियेन्ट इन्डिया एजडिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन'–(१८७७)।

एइजै०=एन इपीटोम ऑफ जैनीज्म–श्री पूर्णचन्द्र नाहर एम०ए०।

एमिक्षट्रा०=' एन्शियेन्ट मिड इंडियन क्षत्रिय ट्राइब्स ' डॉ० विमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

ऐरि०=ऐशियाटिक रिसर्चेज–सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १९०९)।

एइ०=एन्शियेन्ट इंडिया एजडिस्क्राइब्ड बाई स्ट्रैबो मैक क्रिडल (१८०१)।

कजाइ०=कनिंघम, जागरफी ऑफ एंशियेन्ट इंडिया–(कलकत्ता १९२४)।

कलि०=' ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज लिट्रेचर ' ई० पी० राइस (H. L. S. 1921).

कसू०=कल्पसूत्र मूल (श्वेताम्बरी आगम ग्रन्थ)।

काले०=कारमाइकल लेक्चर्स डॉ० डी० आर० भाण्डारकार।

कैहिइ०=कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा० १–रैपसन सा० (१९२२)।

गुसापरि०=गुजराती साहित्य परिषद् रिपोर्ट-सातवीं। (भावनगर सं० १९८२)।

गौबु०='गौतमबुद्ध' के० जे० सॉन्डर्स (H. L. S.)।

चमभ०='चद्रराज भंडारी कृत भगवान महावीर'।

जवि ओसो०=जनरल आफ दी बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी '।

जम्बू०=जम्बूकुमार चरित्र (सूरत वीराब्द २४४०)।

जमीसो०=जर्नल आफ दी मीथिक सोसाइटी–बेंगलोर।

जराएसा०=जनरल ऑफ दी रायल ऐसियाटिक सोसायटी–लंदन।

जैका०='जैन कानून' (श्री० चम्पतराय जैन विद्यावा० विजनौर १९२८)।

जैग०='जैन गजट' अंग्रेजी (मद्रास)।

जैप्र०=जैनधर्म प्रकाश ब्र० शीतलप्रसादजी (बिजनौर १९२७)।

जैस्तू०=जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज ऑफ मथुरा–स्मिथ।

जैसासं०='जैन साहित्य संशोधक' मु० जिनविजयजी (पूना)।

जैसिभा०=जैन सिद्धान्त भास्कर श्री पद्मराज जैन (कलकत्ता)।

जैशि सं०='जैन शिलालेख संग्रह'–प्रो० हीरालाल जैन (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला।

जैहि०=जैन हितैषी सं० पं० नाथूरामजी व पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)।

जैसू०(Js.)=जैन सूत्राज (S. E. Series, Vols. XXII & XLV).

टॉरा०=टॉडसा० कृत राजस्थानका इतिहास (वेङ्कटेश्वर प्रेस)।

डिजेबा०='ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्रैफी' श्री उमरावसिंह टॉक (आरा)।

तक्ष०='ए गाइड टू तक्षशिला'–सर जॉन मारशल (१९१८)।

तत्वार्थ०=तत्वार्थाधिगम् सूत्र श्री उमास्वाति S. B. J. Vol. I

तिप०='तिल्लोय पण्णत्ति' श्री यति वृषभाचार्य (जैन हितैषी भा० १३ अंक १२)।

दिजै०='दि० जैन मासिक पत्र सं० श्री. मूलचन्द किसनदास कापड़िया (सूरत)।

दीनि०='दीघनिकाय' (P. T. S.)।
परि०=परिशिष्ट पर्व-श्री हेमचन्द्राचार्य।
प्राजैलेसं०=प्राचीन जैन लेख संग्रह कामताप्रसाद जैन (वर्धा)।
बविओ जैस्मा०=बंगाल, बिहार, ओड़ीसा जैन स्मारक-श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी।
बंजैस्मा०=बम्बई प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ब्र० शीतलप्रसादजी।
बुइ०=बुद्धिष्ट इन्डिया-प्रो० ह्रीस डेविड्स।
भपा०=भगवान् पार्श्वनाथ-ले० कामताप्रसाद जैन (सूरत)।
भम०=भगवान महावीर- ,, ,, ,,
भमबु०=भगवान महावीर और म० बुद्ध कामताप्रसाद जैन (सूरत)।
भमी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती) सूरत।
भाइ०=भारतवर्षका इतिहास-डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० लिट् (प्रयाग १९२७)।
भाअशो०=अशोक-डॉ० भण्डारक (कलकत्ता)।
भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश श्री. विश्वेश्वरनाथ रेउ (बंबई)।
भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास, सर रमेशचंद्र दत्त।
मजैइ०=मराठी जैन इतिहास।
मनि०= } मज्झिमनिकाय P. T. S.
मज्झिम०= }
मप्रजैस्मा०=मद्रास मैसूरके प्रा० जैन स्मारक ब्र० शीतलप्रसादजी।
महा०=महावग्ग (S. B. E. Vol. XVII).
मिलिन्द०=मिलिन्द पन्ह (S. B Vol. XXXV.)
मुरा०=मुद्राराक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिस वर्कस, विलसन।
मूला०=मूलाचार वट्टकेर स्वामी (हिन्दी भाषा सहित बम्बई)।

मैअशो०=अशोक मैकफैल कृत (H. L. S.).

मैबु०=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म=(स्पेनहार्डी) ।

रश्रा०=रत्नकरण्ड श्रावकाचार सं०पं० जुगलकिशोरजी (बम्बई)।

राइ०=राजपूतानेका इतिहास भाग १--रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ।

रिइ०=रिलिजस ऑफ दी इम्पायर--(लन्दन) ।

लाआम०=लाइफ ऑफ महावीर ला० माणिकचंद्रजी (इलाहाबाद)।

लाभाइ०=भारतवर्षका इतिहास ला० लाजपतराय कृत (लाहौर)।

लाम०=लार्ड महावीर एण्ड अधर टीचर्स ऑफ हिज टाइम--कामताप्रसाद (दिल्ली) ।

लावबु०=लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्ध घोष--डॉ० विमलाचरण लॉ० (कलकत्ता) ।

वृजैश०=बृहद् जैन शब्दार्णव--पं० बिहारीलालजी चैतन्य ।

विर०=विद्वद् रत्नमाला--पं० नाथूरामजी प्रेमी (बंबई) ।

श्रव०=श्रवणबेलगोला, रा० ब० प्रो० नरसिंहाचार एम० ए० (मद्रास) ।

श्रेच०=श्रेणिक चरित्र (सुरत) ।

सआमिवॉ०=सर आशुतोष मेमोरियल वॉल्यूम (पटना) ।

सकौ०=सम्यक्त्व कौमुदी (बंबई) ।

सजै०=सनातन जैन धर्म--अनु०=कामताप्रसाद (कलकत्ता) ।

संजैइ०=संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भाग कामताप्रसाद (सूरत)।

सडिजै०=सम डिस्टिंग्गुइस्ड जैन्स उमरावसिंह टांक (आगरा)।

संप्राजैस्मा०=संयुक्त प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक--ब्र० शीतल।

सूसाइजे०=स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म प्रो० रामास्वामी आयंगर।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर—मुनि विद्याविजयजी (आगरा)।

सक्षट्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइब्स इन एन्शियन्ट इंडिया—डॉ० विमलाचरण लॉ०।

साम्स०=साम्स आफ दी ब्रदरेन।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B. E.)।

हरि०=हरिवंशपुराण-श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता)।

हॉजै०=हॉर्ट ऑफ जैनीज्म मिसेज स्टीवेन्सन (लंदन)।

हिआइ०=
हिआरूइ= } हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूल इन इंडिया—हैवेल।

हिग्ली०=हिस्टोरीकल ग्लीनिन्गास—डॉ० विमलाचरण लॉ०।

हिटे०=हिन्दू टेल्स—जे० जे० मेयर्स।

हिड्राव०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्क्स विलसन्।

हिप्रीइफि०=हिस्ट्री आफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफी बारुआ (कलकत्ता)।

हिलिजै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म—बारोदिया (१८०९)।

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष नागेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता)।

क्षत्रीक्लेन्स=क्षत्रीक्लेन्स इन बुद्धिष्ट इंडिया—डॉ० विमलाचरण लॉ०।

संक्षिप्त जैन इतिहास।

द्वितीय भाग—द्वितीय खंड।

(सन् २५० ई० पूर्वसे सन् १३०० ई० तक)

प्राक्कथन।

इतिहासका महत्व। इतिहासका कार्य सत्य घटनाको प्रकट करना है। जो बात जैसे घटित होचुकी है, उसका वैसा ही वर्णन करना इतिहास है। साहित्य जगतमें पुरातन कथा, पुराण, जनश्रुति आदिका संग्रह इतिहास कहलाता है। सत्य उसका मूलाधार है। सत्य इतिहास ही सजीव इतिहास है और वही इतिहास अपने उद्देश्यमें सफल होता है। मानव जगत सत्य इतिहाससे ही सीकर शिक्षा ग्रहण कर सक्ता है। अतएव मानव हितके लिये यथार्थ इतिहासका निरूपण होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक राष्ट्र और जातिको अपने पूर्वजोंका वास्तविक इतिहास ज्ञात होनेसे, वह अपने गौरव, प्रतिष्ठा और शक्तिको प्राप्त करनेके लिये सचेष्ट होता है। इतिहास उस राष्ट्र और जातिमें नया जीवन, नई स्फूर्ति और नये भावोंको जन्म देता है। वह शिक्षित समाजमें एक युग प्रवर्तकका कार्य करता है।

इतिहासके महत्वको भुलाकर कोई भी राष्ट्र या जाति जीवित नहीं रह सकती। जैनाचार्य इतिहासके महत्वसे अवज्ञात रहे हैं। जैन वाङ्मयमें

कथा और जनश्रुति।

'प्रथमानुयोग' का अस्तित्व इसी बातका द्योतक है। किंतु कहा जासकता है कि कथाओं और जनश्रुतियोंको वास्तविक इतिहास कैसे माना जाय? यह शङ्का तथ्यहीन नहीं है; किंतु किसी राष्ट्र या जातिके इतिहासको प्रकट करनेवाली कथाओं और जनश्रुतियोंको यदि एकदम ठुकरा दिया जाय, तो फिर उस राष्ट्र या जातिका इतिहास किस आधारसे लिखा जाय? अतएव श्रेयमार्ग यह है कि इतिहास-विषयक कथाओं और जनश्रुतियोंको तबतक अस्वीकार न करना चाहिये जबतक कि वह अन्य स्वाधीन साक्षी-शिलालेख आदिसे असत्य सिद्ध न होजाय! बस जैन कथाओं जनश्रुतियों या अन्य परम्परीण मान्यताओंको जैन जातिके इतिहास लिखनेमें भुलाया नहीं जासकता! इसी बातको ध्यानमें रख करके हमने जैन कथाओं और जनश्रुतियोंका भी उपयोग इस इतिहासके लिखनेमें किया है। हां, जहांपर कोई बात इतिहाससे विरुद्ध प्रतीत हुई, वहां उसको अमान्य या प्रकट कर देना हमने उचित समझा है; क्योंकि पक्षपात इतिहासका शत्रु है। प्रस्तुत इतिहास लिखनेमें हमने इस नीतिका ही यथासंभव पालन किया है।

प्रस्तुत इतिहास और उसका महत्व।

'जैन इतिहास' जैन धर्मावलम्बियोंका इतिहास है। अतः जैन धर्म विषयक इस इतिहासमें जैन महापुरुषों, राजा महाराजाओं, आचार्य-विद्वानों, संघ-गणादि सम्बन्धी विशेष घटनाओंका

यथार्थ परिचय और उसका प्रभाव भिन्न २ कालोंमें तत्कालीन परिस्थितिपर कैसा पड़ा था, यह सब कुछ बतलानेका प्रयास किया गया है। इस इतिहासको हमने 'भा० दिगम्बर जैन परिषद्' के प्रस्तावानुसार कई वर्षों पहलेसे लिखना आरम्भ किया था। सौभाग्य-वश इसका प्रथम भाग जिसमें जैनोंके पुराणवर्णित महापुरुषोंका वर्णन है, सन् १९२६ में ही प्रकट होगया था। उसके लगभग छह वर्षोंके पश्चात उसके दूसरे भागका पहला खण्ड विगत वर्ष फरवरी १९३२ में प्रकाशित हुआ था। दूसरे भागमें ई० पूर्व ६०० से सन् १३०० तकका इतिहास लिखना इष्ट है। उस भागको तीन खण्डोंमें विभक्त किया गया है। पहले खण्डमें भ० महावीरके समयसे शुङ्गकाल तकका वर्णन लिखा गया है। इस दूसरे खण्डमें तबसे सन् १३०० तकका उत्तर भारतसे सम्बन्ध रखनेवाला इतिहास प्रकट किया गया है व तीसरे खण्डमें दक्षिणभारतका इतिहास संकलित करना शेष है।

अन्तिम अंश प्रस्तुत इतिहासका तीसरा भाग होगा और उसमें सन् १३०० के उपरान्त वर्तमानकाल तकका इतिहास प्रकट करना वाञ्छनीय है। किन्तु प्रस्तुत इतिहासको मात्र 'जैन इतिहास' समझना ठीक नहीं है। वस्तुतः वह जैन दृष्टिसे लिखा हुआ और जैनोंकी मुख्यताको लिये हुए भारतवर्षका इतिहास है। इस रूपमें ही उसका महत्व है। एक जिज्ञासु उसको पढ़ लेनेसे जैन इतिहासके साथ २ भारतवर्षके इतिहासका ज्ञान प्राप्त कर सक्ता है। उसके अतिरिक्त जैन इतिहास विषयका यही अपनी श्रेणीका पहला ग्रन्थ है।

प्रस्तुत इतिहासके प्रथम भाग और दूसरे भागके प्रथम खण्डमें

जैनधर्मके स्वरूप, उसकी प्राचीनता और
चौवीस तीर्थङ्कर । उसके मुख्य चौवीस तीर्थङ्करोंके विषयमें बहुत कुछ लिखा जाचुका है। उसको यहांपर दुहराना व्यर्थ है; किन्तु हालमें चौवीस तीर्थङ्करोंके विषयमें एक नई शङ्का खड़ी हुई है–उनके अस्तित्वको काल्पनिक कहा गया है। यदि यह कथन किसी प्रमाणके आधार पर होता–कोरी कल्पना न होती, तो इसे कुछ महत्व भी दिया जाता, परन्तु यह निराधार है और इससे ऐसी कोई बात प्रगट नहीं होती जिससे चौवीस तीर्थङ्कर विषयक मान्यता बाधित हो। प्रत्युत स्वाधीन साक्षीसे इस जैन मान्यताका समर्थन होता है। भारतीय शिलालेख, वैदिक और बौद्ध साहित्य उसका समर्थन करते हैं, यह पहले लिखा जाचुका[२] है। हालमें 'मोइन-जो-दरो' के पुरातत्वपर जो प्रकाश पड़ा है, वह उस कालमें अर्थात् आज़से लगभग पांच हजार वर्ष पहले जैन धर्म और उसके साथ जैन तीर्थङ्करोंका अस्तित्व प्रमाणित करता है। वहांसे ऐसी नग्न मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, जिनकी आकृति ठीक जैन मूर्तियाँ सदृश है और उनपर जैन तीर्थङ्करोंके चिह्न बैल आदि हैं। एक लेखमें स्पष्टतः 'जिनेश्वर' भगवानका उल्लेख है।

१–"जैनजगत"में इसी प्रकारका लेख प्रगट किया गया है। २–"संक्षिप्त जैन इतिहास" प्रथम भागकी प्रस्तावना तथा द्वितीय भाग प्रथम खंड पृ. ३

३–"A standing image of Jain Rishabha in **Kayotsarga** posture.........closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals, etc. etc." —*Modern Reveiw, Aug. 1932.*

४–मुद्रा नं० ४४९ पर 'जिनेश्वर' शब्द अङ्कित है। देखो ईंटिका०, भा० ८ इन्डससील्स पृ० १८

इन बातोंको देखकर विद्वान् जैनधर्मका सम्बन्ध उनसे स्थापित करते हैं। इस साक्षीसे तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके बहुत पहले जैनधर्मका अस्तित्व प्रमाणित होता है। इस दशामें भ० पार्श्वनाथके पहले भी तीर्थङ्करोंका होना आवश्यक है। अब यदि उनको काल्पनिक मान लिया जाय तो ई० पूर्व ८–९वीं शताब्दीके पूर्व जैनधर्मकी सत्ता न होनी चाहिये। किन्तु यह उपरोक्त पुरातत्व विषयक साक्षीसे बाधित है। अतएव भ० पार्श्वनाथके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करोंको वास्तविक व्यक्तियां मानना उचित है।

जैनधर्मकी विशेषता। जैन धर्म एक सत्य अर्थात् विज्ञान है। सत्य होनेके कारण उसका व्यवहारिक होना लाजमी है। वस्तुतः जैन इतिहास उसे एक ऐसा ही धर्म प्रमाणित करता है। हां, जैनियोंकी वर्तमान शोचनीय दशा हमारी इस व्याख्याको एक अतिसाहसी-सा वक्तव्य दर्शाती है; किन्तु जरा देखिये तो आजकलके भारतीय धर्मोंके अनुयायियोंको! उन धर्मोंके मूल सिद्धांत कुछ हैं और उनके अनुयायियोंका आचरण आज कुछ और है। जैनी भी अपने धर्मके मूल सिद्धांतोंसे बहुत कुछ भटक गये हैं। उनका पूर्व इतिहास और धर्मशास्त्र इस व्याख्याकी साक्षी है। उदाहरणतः जैनधर्मके अहिंसा सिद्धान्तको ले लीजिये। आज इस सिद्धांतकी जैसी मिट्टी पलीद जैनियोंने की है,

1–Dr. Pran Nath writes in the Indian Hist: Quarterly (Vol. VIII No. 2): "The names and symbols on Plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people."

वैसा शायद ही कभी हुई है। अहिंसा तत्व मूलमें मनुष्यको शूरवीर बनानेवाला है। किन्तु आजके जैनी उसे कायरताका जनक मान रहे हैं। नौबत यहांतक पहुंची है कि अहिंसाके झूठे भयके कारण जैनी अपनी, अपने बालबच्चों और धन सम्पत्तिकी रक्षा करने योग्य भी नहीं रहे हैं। किन्तु जैन इतिहासको देखिये; वह कुछ और ही बात बतलाता है। अहिंसा अणुव्रतको पालनेवाले अनेक जैन वीर ऐसे हुये हैं, जिन्होंने देश और धर्मके लिये अगणित युद्ध रचे थे। मौर्य्य सम्राट् चंद्रगुप्तने अपने भुजविक्रमसे अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उन्होंने ही यूनानी बादशाह सिल्यूकसको मार भगाकर भारतकी स्वाधीनताको अक्षुण्ण रक्खा था।

सम्राट् सम्प्रतिने देश-विदेशमें धर्म-साम्राज्य स्थापित करनेका उद्योग किया था। उसके उत्तराधिकारी शालिसूकने सौराष्ट्रको अपने असिबलसे विजय करके वहां जैनधर्मका प्रचार किया था। इसे उन्होंने अपनी महान् 'धर्मविजय' कहा है। इसी तरह कलिङ्ग-

१–हिन्दू ग्रन्थ 'गर्गसंहिता' के 'युगपुराण' में यह उल्लेख इस प्रकार है:–"तस्मिन् पुष्पपुरे रम्ये जनाराममशताकुले। ऋतुकर्मक्षयाकूत: शालिशूको भविष्यति॥ स राजाकर्मनिरतो दुष्टात्मा प्रियविग्रह:। सौराष्ट्रमर्दयन् घोरं धर्मवादी ह्यधार्मिक:॥ स्वं ज्येष्ठं भ्रातरं साधुं संप्रति प्रथयन् गणै:। स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्॥" दीवानबहादुर प्रो० के० ध्रुव इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

"In the beautiful city of Puspapura studded with hundreds of Public parks, there will arise Salisaka intent on the abolition of sacrificial ritual. That wicked king, addicted to evil deeds, taking pleasure in (religious) squabbles, talking

चक्रवर्ती ऐल खारवेलने अनेक संग्रामोंमें अपना शौर्य प्रकट करके धर्मप्रभावना की थी। उनके भयसे यूनानी बादशाह दमित्रिय भारत छोड़कर भाग गया था। जैन वीर खारवेलने पुनः स्वाधीन भारतकी प्रतिष्ठाको बाल २ बचा लिया! यह सब ही वीर परम धर्मात्मा श्रावक थे। चन्द्रगुप्त तो अन्तमें जैन मुनि होगये थे। खारवेलने कुमारीपर्वतपर उग्रोग्र व्रत-उपवासोंको करके अपनेको क्षीण-संमृत बना लिया था। अहिंसा तत्त्वको उन्होंने ठीक-ठीक समझा था और उसका प्रकाश अपने व्यक्तित्वमें खूब ही किया! इसी लिये भारतीय विद्वान जैन धर्मको अपने वास्तविक रूपमें शक्ति-शाली धर्म प्रकट करते हैं। वह कहते हैं कि वह कर्मवीरोंका धर्म है। अकर्मण्य पुरुषोंका नहीं! वस्तुतः बात भी यही है।

जैनाचार्य अपने देश और धर्मके लिये मनुष्यको कर्तव्यशील होनेका उपदेश देते हैं[२]। एक श्रावकके लिये वात्सल्य-धर्म वह हर तरह--जरूरत हो तो असिबलसे भी अपने धर्मात्मा भाइयोंकी रक्षा करना

---

religion but (really) irreligious, steeped in delusion; will terribly prosecute the people of Saurastra and proclaim the so-called Religious Conquest, contributing thereby to the glorification of the religiousness of his elder brother Samprati by sections of the Jain community." —*Jbors, XVI p. 24.*

१-Prof. Dr. B Seshagiri Rao, M. A., ph. D., writes: "It appears to me that Jainism is a religion of strength......It is a worker's and not an idler's faith."—*Jain Antiquary, I, 1.*

२-आचार्य सोमदेव 'यशस्तिलकचम्पू' में कहते हैं:—

"यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्, यः कण्टको वा निजमंडलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति, न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥"

बतलाते हैं। वस्तुतः जैन अहिंसा प्रत्येक श्रेणीके मनुष्यके लिये व्यवहार्य है। वह मनुष्यके जीवन मार्गको निर्मल और निशङ्क बनाती है। जबतक जैनी उसके वास्तविक स्वरूपको ग्रहण किये रहे वह खूब फले फूले।

भ० महावीरके निकट प्रायः सारे भारतने अहिंसा धर्मकी दीक्षा ली थी। भारतीय राष्ट्र सच्चा अहिंसक इतिहास सुधार और वीर बन गया था। फलतः भ० महावीरका शौर्यका प्रवर्तक है। धर्म विशेष उन्नत हुआ था और विदेशी लोग भी भारत-विजयकी लालसामें हताश होकर अपने २ देशोंको लौट गये थे। प्रस्तुत ग्रन्थमें जो इतिहास संकलित है, वह इस व्याख्याको दर्पणवत स्पष्ट करता है। हिंदू ग्रंथोंकी साक्षी भी इस कालमें जैन धर्मोत्कर्षका समर्थन करती है। यवन, शक आदि विदेशी लोग तक जैनधर्मकी शरणमें आये थे। हिंदू शास्त्रकारोंने इन्हें 'वृषल' कहकर अपने धर्मसे बाह्य प्रकट किया है।[2] इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि जैनधर्म वस्तुतः एक शक्तिशाली धर्म है और उसके द्वारा जगतका कल्याण विशेष हुआ है।

अर्थ—"जो रणाङ्गणमें युद्ध करनेको सन्मुख हों अथवा अपने देशके कण्टक—उसकी उन्नतिमें बाधक—हों क्षत्रिय वीर उन्हींके ऊपर शस्त्र उठाते हैं—दीनहीन और साधु आशयवालोंके प्रति नहीं" विशेषके लिये देखो "जैन अहिंसा और भारतके राज्यों पर उसका प्रभाव।"

१—'गर्गसंहिता' के उल्लेखसे कि 'वृषल भिक्षुक होंगे' (भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न संशयः' उस समय ब्राह्मणेतर साधुओंकी बाहुल्यता स्पष्ट है। २—'मानवधर्मशास्त्र' (१०।४३-४४)में पौण्ड्र, उड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक आदिको ब्राह्मण विमुख 'वृषल' हुआ लिखा है।

आजकलके जैनियोंको प्रस्तुत इतिहाससे देखना चाहिये कि उनके पूर्वजोंने किस प्रकार धर्मका गौरव प्रगट किया था। जीव मात्रका कल्याण करनेके लिये उन्होंने निःशंक वृत्ति स्वीकार की थी। जैनधर्मका मूल रूप उनके चारित्रमें स्पष्ट है। आज भी उनके आदर्शका अनुकरण करना श्रेयस्कर है। प्रस्तुत पुस्तक पाठकोंके लिये इस विषयमें मार्गदर्शकका कार्य करे. यही हमारी अभिलाषा है। सचमुच इतिहासका कार्य ही यह है। वह सुधार और शौर्यका पाठ पढ़ाता है. मुर्दा दिलोंमें नये उत्साह और नये जोशको जगाता है। भारतको आज ऐसे वीरभावोत्पादक धर्मकी आवश्यक्ता है! भारत-संतान अपने वीर पूर्वजोंको जाने और उन्हें पहचानकर उनके पदचिन्होंपर चलनेका प्रयत्न करे, यही भावना है। सचमुच:

"यह थे वह वीर जिनका नाम सुनकर जोश आता है।
रगोंमें जिनके अफसानोंमें चक्कर खून खाता है॥"

(२)

इन्डो-बैक्ट्रियन और इन्डो पार्थियन राज्य

क्षत्रप व कुशन-साम्राज्य। (सन २२६ ई० पू० से २०६ ई०)

बैक्ट्रियन और पार्थियन राज्य। भारतके उत्तरमें यूनानियोंने अपना राज्य स्थापित किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्तके वर्णनमें लिखा जाचुका है कि सिल्यूकस नाइकेटर भारतमें पराम्त होकर वलख आदिको और लौट गया था। सन २६१ ई० पू०में सिल्यूकसकी मृत्युके पश्चात उसका पुत्र एण्टिओकस राजा हुआ परन्तु

अयोग्य होनेके कारण बल्ख (बैक्ट्रिया) और पार्थियावाले सन् २५० ई० पू० के लगभग उससे स्वाधीन होगये। भारती सीमापर सिकन्दरके पश्चात् इन यूनानियोंके हमले बराबर होते रहे थे, किन्तु सिल्यूकसके बाद पहला यूनानी राजा जिसने पंजाबपर हमला किया डिमिट्रीअस था। डिमिट्रीअसने अपना अधिकार मथुरा तक जमा लिया था और वह मगधको भी सर करना चाहता था: किंतु सम्राट् खारवेलके भयसे वह मथुरा छोड़कर चला गया था।* फलत: यूनानियोंका भारतीय सीमा पंजाब व सिंधुपर अधिकार होगया था। इनमें मेनेन्डर नामका राजा बहुत प्रसिद्ध था। सन् १६० ई० पू०में सन् १४० ई० पू० तक वह काबुलका शासक था। उसने सन् १५५ ई० पू० के निकट भारतपर चढ़ाई की थी।[१] मि० स्मिथने इस घटनाका समय ई० पू० १७५ माना है।

राजा मेनेन्डर व जैन-धर्म

मेनेण्डर (मनेन्द्र) या मिलिन्दका जन्म सिंधुनद-वर्ती प्रदेशमें अर्थात् 'द्वीप अलसन्द' जिसे यूनानी अलेक्जेन्ड्रिया कहते थे, वहां हुआ था। उत्तर पश्चिमी भारतपर विजय प्राप्त करके मेनेन्डरने पंजाबके साकल (स्यालकोट) नगरमें अपनी राजधानी स्थापित की थी। साकल उस समय बड़ा समृद्धिशाली नगर था। जैनधर्मका प्रचार भी वहां विशेष था। बौद्ध-धर्म वहां उस समयके बारह वर्ष पहलेसे नहीं था। बौद्ध भिक्षु नागसेनने

१-भाइ० पृ० ७७. * जविओसो० भा० १६ पृ० २९८. २-भाप्रारा० भा० २ पृ० १८८. ३-पूर्व० पृ० १८९. ४-मिलिन्द० पृ० १०.

वहां जाकर बौद्ध धर्मका प्रचार किया था। स्ट्रैबोने लिखा है कि मेनेन्डरने पटल (सिन्ध), सुराष्ट्र और सगरडिस (सागर-द्वीप कच्छ) तक अधिकार कर लिया था। उसके शिक्के भड़ौचतक प्रचलित थे और उसकी सेना राजपूताना तक पहुंची थी। मेनेन्डर वीर होनेके साथ ही शास्त्रज्ञ भी था। प्लूटार्कने उसे एक अत्यन्त न्यायवान राजा लिखा है। वह इतना लोक-प्रिय था कि इसकी मृत्युके पश्चात् लोगोंने उसका भस्मावशेष आपसमें बांटकर उसपर स्तूप बनाए थे। मेनेन्डरका अधिकार मथुरा, माध्यमिका (चित्तौरके निकट) और साकेत (दक्षिणी अवध) तक होगया था। किन्तु गंगाके आसपास वाले प्रदेशोंमें उसका राज्य अधिक दिनोंतक नहीं रहा था। पातन्जलीके महाभाष्यमें यवनों द्वारा साकेत और मध्यमिकाके घेरेका उल्लेख है।

संभवतः यह उल्लेख मेनेन्डरके आक्रमणको लक्ष्य करके लिखा गया है; क्योंकि यह चढ़ाई पातंजलिके समयमें हुई थी।[1] जष्टिन मेनेन्डरको भारतका राजा लिखता है। बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्द पाह' से पता चलता है कि भिक्षु नागसेनके उपदेशसे मेनेन्डरने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था; किन्तु बौद्ध होनेके पहले उसका जैन होना बहुत कुछ संभव है। उसने जिन दार्शनिक सिद्धांतोंपर नागसेनके साथ बहस की थी, वह ठीक जैनोंके अनुसार हैं।[2] स्वयं 'मिलिन्द पण्ह' में कथन है कि पांचसौ यूनानियोंने राजा मेनेन्डरसे भगवान महावीरके धर्म द्वारा मनस्तुष्टि करनेका आग्रह किया था और मेनेन्डरने

१—भाप्रारा० भा० २ पृ० १४२—१४३. २—विशेषके लिये देखो 'वीर' वर्ष २ पृ० ४४६—४४९.

उनका यह आग्रह स्वीकार भी किया था। उसके अधिकारमें आए हुए नगर मध्यमिकाके भग्नावशेषोंमेंसे एकसे अधिक जैनधर्म सम्बंधी लेख निकले हैं।[1] इन सब बातोंसे मेनन्डरका एक समय जैनधर्मावलंबी होना प्रगट है। उसके यूनानी साथियोंमें भी जैनधर्मकी मान्यता विशेष थी।[2] इस समयके लगभग जैन सम्राट् खारवेल द्वारा जैनधर्मका बहु प्रचार हुआ था। जैन धर्मका प्रकाश जगतव्यापी होरहा था।

शक व कुशन आक्रमण।

इससे थोड़े समय पश्चात् यूनानियोंको सिथियन-जातिके लोगोंने जिनको भारतीय शक कहते थे, बैक्ट्रियासे निकाल दिया। साथ ही शक लोगोंने सौराष्ट्र पंजाब और अफगानिस्तानपर भी अपना अधिकार जमा लिया। शक राजा मोआके राज्यमें पंजाब और अफगानिस्तान शामिल थे। धीरे धीरे शकोंकी एक शाखाने, जिसे यूची कहते थे, १५० ई० पू० के करीब बैक्ट्रियाको जीत लिया और वह वहां पांच जनसमूहोंमें बंट गई। इनमेंसे एक कुशनने सारी जातिका संगठन करके उसे एक बना लिया और पंजाब तथा अफगानिस्तानपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। फिर कालान्तरमें शकोंने सौराष्ट्र, माल्वा, मथुरा, तक्षशिला आदि देशोंमें भी अपना आधिपत्य जमा लिया था। शक राजा मोआका उल्लेख ऊपर किया जाचुका है। उसका उत्तराधिकारी एजेस (Azes I) प्रथम था, किन्तु उसके विषयमें कुछ अधिक वर्णन नहीं मिलता है; यद्यपि इसमें संशय नहीं कि उसका राज्य दीर्घ और समृद्धिशाली था।

१–मिलिन्द० १०८. २–राई० पृ० ३९८. ३–हिस्ली० पृ० ७८. ४–भाइ० पृ० ७८.

संभवतः अजेसके पराक्रमसे ही शक राज्यका आधिपत्य तमाम उत्तर पश्चिमीय भारतमें जमना नदी तक स्थापित होगया था। उसने 'क्षत्रप' नियत करके पारस्य देशकी राजनीतिकी तरह अपना शासन व्यवस्थित किया था। उसके सिक्कों-

महाराज अजेसके समयमें जैनधर्म।

पर 'महरजस रजरजस महातस अयस' अथवा 'महरजस रज़दिरजस महतम अयस' या 'महरजस महतम ध्रमिकस रजदिरजस अयस' लेख मिलते हैं।[२] महाराजा अजेसके समय (ई० पूर्व प्रथम शताब्दि) में तक्षशिलामें जैनधर्म उन्नतिपर था। उस समयके बने हुए कई जैन स्तूप वहां आज भी भग्नावशेष हैं! एक स्तूपके भीतरसे महाराजा अजेसके आठ तांबेके सिक्के, और एक छोटीसी सोनेकी डिबिया जिसमें अस्थि-अंश स्वर्णके टुकड़े और हाथीदांत एवं पाषाण मणिकायें रक्खे हुये थे, निकले थे। इन स्तूपोंकी बनावट ठीक मथुराके जैन स्तूपकी बनावटके समान है। इन्हीं स्तूपोंके पासवाली इमारतोंमेंसे एक लेख अरेमिक (Aramaic) भाषाका ईसवीसनसे पूर्वका निकला है। भारतमें इस लिपि और इस भाषाका यही एक लेख है। दुर्भाग्यसे यह अभीतक ठीक २ पढ़ा नहीं गया है। डॉ० बार्नेट और प्रो० कौली इसमें एक हाथीदांतके महलके बनवानेका उल्लेख हुआ बतलाते हैं।[३] किन्तु एक धार्मिकस्थान-स्तूपके निकट महलका बनना कुछ ठीक नहीं जंचता! संभवतः यह महल 'जिन-प्रसाद' अर्थात् जैन मंदिरका द्योतक होगा।

१-तक्ष० पृ० १३. २-भाप्रारा० भा० २ पृ० १९६. ३-तक्ष० पृ० ७६-८०.

शक लोग जैन-धर्मके प्रति सद्भाव रखते थे. यह बात श्वेतांम्बर जैन ग्रन्थोंके 'काल्काचार्य कथानक' में भी स्पष्ट है।[1] काल्काचार्यके समयमें उज्जैनका राजा गर्द्दभिल्ल था। उसने अपनी विषयलम्पटताके वश हो. काल्काचार्यकी बहिन आर्यिका सरस्वतीको बलात्कार अपनी स्त्री बनालिया। काल्काचार्यको राजाका यह अन्याय और पापकृत्य असह्य होगया। उन्होंने अन्यायका विच्छेद करनेके लिये शाकदेश (सैस्तन Sei-tan) की ओर प्रयाण किया और वहांके शकराजाओंसे मैत्री करली। शकोंके राजा 'साहाणुसाहि' ने उन्हें राजद्रोहके अपराधमें दण्ड देना चाहा। उन शकोंने काल्काचार्यका कहना माना और ई० पू० १२३ के लगभग ९६ शाही (शक) कुल सिन्धु नदीको पार करके सौराष्ट्रमें आजमे। उनमेंसे एक उनका राजा होगया। काल्कने उसे उज्जैनीपर आक्रमण करनेके लिये उत्साहित किया। शकराजाने काल्काचार्यके आग्रहसे उज्जैनीपर ई० पू० १००में हमला किया। गर्द्दभिल्लके पापका घड़ा भर गया था। वह शक सेनाके सामने टिक न सका। मैदान छोड़कर भाग गया। फलतः शकराजा उज्जैन अथवा मालवाके शासनाधिकारी हुये। काल्काचार्यका उन्होंने आदर किया। आर्यिका सरस्वतीकी भी मुक्ति होगई। वह प्रायश्चित्त ग्रहण कर पुनः ध्यान लीन होगई। विद्वान् लोग इस कथानकको सच्चा मानते हैं।[2] उस समय अर्थात् ईसवी पूर्व

१–प्रभावक चरित्र (१९०९ बम्बई) पृ० ३६–४६ व जविओसो० भा० १६ पृ० २९०. २–कैंहि इ० पृ० १६७-८ व ५३२-३; अलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज भा० २ पृ० १४८ जविओसो० भा० १६.

प्रथम शताब्दिमें भारतीय शकराजा 'शाउनानुशाउ' नामक उपाधि ग्रहण करते थे; यह बात इतिहाससिद्ध है। अतः कालक कथानकसे भी 'जैन धर्मके प्रति शक लोगोंकी सहानुभूति' होना प्रकट है। इन शकोंका राज्य ई० पूर्व १०० से ५८ तक उत्तर व पश्चिमी भारतमें रहा था।

सम्राट् कनिष्क। कुशनवंशमें कनिष्क सबसे प्रतापी राजा था। उसने अपने पराक्रमसे चीन आदि कई देशोंको जीता और साम्राज्यका विस्तार बढ़ाया था। वह सन् ७८ ई० में राजसिंहासनपर आरूढ़ हुआ और उसका अधिकांश समय युद्ध करनेमें बीता था। पेशावर (पुरुषपुर) उसकी राजधानी थी। वहींसे वह अपने सारे राज्यका प्रबन्ध करता था; जिसमें पश्चिममें फारस तकका कुछ हिस्सा और पूर्वमें समस्त उत्तरीय भारत पाटलिपुत्र तक सम्मिलित था।[1] कहते हैं कि गद्दीपर बैठनेके कुछ दिनों बाद कनिष्कने बौद्ध धर्म धारण किया था। उसके राज्यकालमें बौद्ध संघकी एक सभा हुई थी; जिसके निर्णयके अनुसार उत्तरीय भारतके बौद्ध लोग महायान-सम्प्रदायवाले कहलाने लगे थे और दक्षिण 'हीनयान' सम्प्रदायके नामसे प्रसिद्ध हुए थे। कनिष्कने बौद्ध धर्मका खूब प्रचार किया था। उसके समयमें भारतीय व्यापारकी भी खूब वृद्धि हुई थी। कनिष्क विद्याव्यसनी था और उसने कई इमारतें बनवाई थीं। तक्षशिलाके निकट उसने एक राजधानी बनवाई थी। वह आज सरमुख टीलेके नीचे दबी पड़ी है। यमुनाके किनारे मथुराके निकट भी उसने बहुतसी-

---

१—भाइ० पृ० ७९-८१.

इमारतें बनाई थीं। मथुराके पाससे कनिष्कको एक सुंदर मूर्ति निकली है। कनिष्कका राजवैद्य आयुर्वेदका प्रसिद्ध विद्वान चरक था।[1]

यद्यपि भारतमें यूनानियों और शकोंका राज्य रहा था और वे लोग यहांपर बस भी गये थे; परन्तु उनकी

विदेशी आक्रमणोंका प्रभाव।

यूनानी या रोमन सभ्यताका प्रभाव भारतपर प्रायः नहींके बराबर पड़ा था। विद्वान् कहते हैं कि बौद्ध धर्मपर अवश्य उसका कुछ प्रभाव पड़ा था। किन्तु ब्राह्मण और जैन धर्मोंपर उसका असर कुछ भी नहीं पड़ा था। यूनानी भाषा कभी भारतमें लोकप्रिय नहीं हुई और न भारतियोंने यूनानियोंके वेषभूषा और रहन सहनको ही अपनाया था। हां, भारतकी स्थापत्य, आलेख्य और तक्षण विद्यापर उसका किंचित् प्रभाव पड़ा था, परन्तु वह नहींके बराबर था। सचमुच उस समयके भारतीयोंके लिये यह बात बड़े गौरवकी है कि उन्होंने अपनी प्राचीन आर्य संस्कृति और सभ्यताको अक्षुण्ण रक्खा। विदेशियोंके सम्पर्कमें रहते हुये भी वह उनके द्वारा तनिक भी प्रभावित नहीं हुये। प्रत्युत उन्होंने अपनी संस्कृति और धर्मका ऐसा प्रभावशाली असर उन लोगोंपर डाला कि वे उसपर मुग्ध होगये और उनमेंसे अधिकांशने ब्राह्मण, बौद्ध अथवा जैनमतको ग्रहण कर लिया और धीरे २ वह सब मिल जुलकर हिन्दू जनतामें एकमेक होगये।[2]

कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों–हुविष्क और वासुदेवके

१–लाभाइ०, पृ० १९७–२०४। २–अहिइ० पृ० ४२९ व लाभाइ० पृ० २०३।

राजकालमें जैन धर्मकी उन्नति विशेष हुई थी। मथुरा उस समय जैनधर्मका मुख्य केन्द्र था। वहां पर भगवान पार्श्वनाथजी (ई० पू० ९ वीं शताब्दि) के समयका एक जैन स्तूप विद्यमान था। और भी कई स्तूप और जैन मंदिर थे[२]। मथुराके भग्नावशेषोंपर ई० पू० सन् १५० से सन् १०२३ ई० तकके शिलालेख मिले हैं; किन्तु यह भी विदित है कि ई० पू० सन् १५० से भी पहलेका एक जैन मंदिर मथुरामें था; जिसकी वस्तुओंको नये मंदिरोंके काममें लाया गया था। ऐसा मालूम होता है कि जैनियोंका उत्कर्ष वहांपर ईसवी सोलहवीं शताब्दितक रहा था। उपरांत मुसलमानों द्वारा जैनोंका यह तीर्थ और उसके दर्शनीय प्राचीन स्थान नष्ट करडाले गये। यहांकी कारीगरी बड़ी मनमोहक और सुन्दर है।

कुशन साम्राज्यमें जैन धर्मका उत्कर्ष।

इन धर्मायतनोंको राजा और रंक सबने बनवाकर पुन्य संचय किया था। जहां एक ओर कौशिक क्षत्रियों द्वारा निर्मित आयागपटका उल्लेख मिलता है वहां दूसरी ओर नृतक एवं गणिकाओं द्वारा बनवाये गये आयागपट और जैन मंदिर मिलते हैं। इनमें प्रोष्ठल और साक्य क्षत्रियोंके लिये कालरूप गोतिपुत्रका नाम उल्लेखनीय है। इनकी पुत्री कौशिक वंशकी शिवमित्रा नामक थीं; जिन्होंने जैन मंदिरमें एक आयागपट निर्मित कराया था। इसी प्रकार हारिती पुत्र पालकी स्त्री कौत्सी अमोहनीने अर्हत पूजाके लिये आर्यवती

१–अहिइं० पृ० ३१८ व कहिइं० पृ० १६७. २–जैस्तूप० पृ० १३. ३–वीर वर्ष ४ पृ० २९७. ४–एइं० भा० १ पृ० ३९४–३९६

बनवाई थी। इनके अतिरिक्त भग्नावशेषोंमें अङ्कित चित्रों जैसे—राजछत्र लगाये किसी राजाको जैन साधुका उपदेश देना, नागकुमारों (शकों) का विनीत भावसे उपदेश श्रवण करना अथवा पूजा करना इत्यादिसे जनताके साधारण और विशेष मनुष्यों तथा विदेशियोंके मध्य जैन धर्मकी मान्यता होनेका परिचय मिलता है[१]। "जम्बूकुमार चरित" में वहां पांचसौसे अधिक स्तूपोंका होना प्रगट है।[२]

जैनधर्मका विशालरूप। उस समय भी जैनधर्म अपने विशाल रूपको धारण किये हुये था। जिन विदेशियोंको घृणाकी दृष्टिसे हिन्दू लोग देखते थे, उनको बौद्ध और जैनाचार्योंने अपने २ मतमें दीक्षित किया था। उपरान्त इन दोनों धर्मोंकी देखादेखी ब्राह्मणोंने भी अपने मतका प्रचार इन विदेशियोंमें किया था। जैन शास्त्रोंमें सर्व प्रकारके मनुष्योंके लिये धर्म साधन करनेका विधान मौजूद है। म्लेच्छ भी यथावसर आर्य होजाता है और वह मुनि होकर मोक्ष लाभ करता है।[३] मथुराके पुरातत्वसे जैनधर्मकी इस विशालताका पता चलता है। विदेशी शक आदि लोग जैनधर्मयुक्त हुए थे और नट, वेश्या आदि जातियोंके लोग भी अर्हत भगवानकी पूजाके लिये जिनमंदिर आदि निर्मित कराकर धर्मोपार्जन करते थे। इन मंदिरादि विविध व्यक्तियोंका दान कहा गया है।[४]

१–विशेषके लिये देखो "वीर" वर्ष ४ पृ० २९४–३११. २–अनेकान्त १ पृ० १४०. ३–लब्धिसार गाथा १९५ वेंकी टीका पृ० २४१ व विशाल जैन संघ नामक हमारा ट्रेक्ट देखो। ४ वीर वर्ष ४ पृ० ३११.

यह भी मालूम होता है कि तबतक विवाह क्षेत्रकी विशालतामें भी कोई संकोच नहीं हुआ था। वणिक सिंहकका विवाह एक कौशिक वंशीय क्षत्राणीसे हुआ था। अबतक वैश्य जातिकी उपजातियोंका प्रचार नहीं था और लोग चार वर्णोंकी अपेक्षा ही एक दूसरेका उल्लेख करते थे। किन्तु इस पुरातत्वसे उस समय अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दिसे ई० दूसरी शताब्दि तक जैन संघमें जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका खासा परिचय होता है। इसका विशेष वर्णन दिगम्बर और श्वेतांबर भेदका जिकर करते हुये आगे किया जायगा। 'दिगम्बर' अपनेको प्राचीन 'निर्ग्रन्थ' नामसे संबोधित करते थे।

छत्रप राजवंश।

पहले कहा जाचुका है कि इन्डो बैक्ट्रियन राजाओंने प्रांत प्रांतमें छत्रप नियत करके शासन प्रबन्ध किया था। कुशन कालमें यह छत्रप लोग उत्तर पश्चिमी भारतके कुशन राजाके सूबेदार थे। किन्तु अन्तमें इनका प्रभाव इतना बढ़ा कि मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिंध, उत्तर कोंकण और राजपूतानेके मेवाड़, मारवाड़, सिरोही, झालावाड़, कोटा, परतापगढ़, किशनगढ़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और अजमेर तक इनका अधिकार होगया। ई० पू० पहली शताब्दिसे ई० चौथी शताब्दि तक भारतमें छत्रपोंके तीन मुख्य राज्य थे; दो उत्तरी और एक पश्चिमी भारतमें। तक्षशिला अर्थात् उत्तर पश्चिमी पंजाब और मथुराके छत्रप 'उत्तरी छत्रप' तथा पश्चिमी भारतके छत्रप 'पश्चिमी छत्रप' कहलाते थे। यह मूलमें

१—वीर वर्ष ४ पृ० ३०१.

शक जातिके थे और पहले पहल विवाह सम्बन्ध केवल अपनी जातिमें करते थे। किंतु उपरांत यह लोग जैन और बौद्ध धर्ममें दीक्षित होगये थे। वैदिक धर्मको भी इन लोगोंने अपनाया था। क्षत्रियोंके साथ इनका वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगा था।

छत्रप वंशमें नहपान नामका राजा बहुत प्रसिद्ध था। उसका समय ई० पूर्व प्रथम शताब्दिमे ईस्वी प्रथम शताब्दि तक विद्वान् अनुमान करते हैं।

छत्रप नहपान।

उसकी 'राजा' और 'महाछत्रप' उपाधियां थीं: जो उसे एक स्वाधीन राजा प्रगट करती हैं। नहपानका राज्य गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, नासिक आदि देशोंपर था। उसका जमाता ऋषभदत्त उसका सेनापति था। नहपान भूमकका उत्तराधिकारी[१] था। इस भूमकके सिक्कोंमें एक ओर सिंह व धर्मचक्र तथा ब्राह्मी अक्षरोंका लेख अङ्कित मिलता है। यह चिह्न जैनत्वके द्योतक हैं। भूमकके दरबारकी भाषा भी प्राकृत थी। नहपान निस्सन्देह जैन धर्मानुयायी था। दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ही जैन सम्प्रदायोंके शास्त्रोंमें उसका वर्णन मिलता है। श्री जिनसेनाचार्यने उसका उल्लेख 'नरवाह' नामसे किया है और उसका राज्यकाल ४२ वर्ष लिखा है; जो ई० पूर्व ५८ तक अनुमान किया जाता है[३]। जैन शास्त्रोंमें नहपानका उल्लेख 'नरवाहन' 'नरसेन' 'नहवाण' आदि रूपमें हुआ मिलता है। नहपानका एक विरुद 'भट्टारक' था।

१–भाप्रारा० भा० १ पृ० २–३. २–भाप्रारा० भा० १ पृ० १२–१३. ३–जविओसो० भा० १६ पृ० २८९ ४–राइ० भा० १ पृ० १०३.

यह शब्द जैनोंमें विशेष रूढ़ है। उसके जमाताका नाम ऋषभदत्त बिल्कुल एक जैन नाम है। इन सब बातोंको देखते हुए इन शकोंको जैन धर्मभुक्त मानना अनुचित नहीं है। नहपान निस्सन्देह जैन शास्त्रोंका नरवाहन है। आधुनिक विद्वान भी इस व्याख्याको स्वीकार करते हैं[२]। इस अवस्थामें नहपानको जैन शास्त्रानुसार जैनी मानलेना ठीक है।

नहपान व जैनशास्त्र। श्वेतांबर जैन शास्त्र 'श्री आवश्यक सूत्र भाष्य' से प्रगट है कि "भृगुकच्छमें नहवाण (संस्कृतरूप नरवाहन) नामक राजा राज्य करता था। उसके पास अटूट धन-कोष था। उसके साथ ही प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान पैठन) में एक सालिवाहन नामका राजा था, जिसकी सेना अजेय थी। शालिवाहनने नहवाणकी राजधानीको

1–Rishabhadatta is purely a Jaina mame: 'given by Rishabha (The Tirthankara)' —*JBORS XVI 250.*

2–"I need hardly say that Nahavana stands for Nahapana." —*M M. K. P. Jayswal., JABORS XVI.*

पं० नाथूरामजी प्रेमी भी 'नहवाण' को 'नहपान' बताते हैं। जैहि० भा० १३ पृ० ५३४.

३–'भरुयच्छे णयरं नहवाहणो राया कोससमिद्धो' आवश्यक सूत्रभाष्य। इसका संस्कृत रूप अभिधान राजेन्द्रकोषमें (भा० ५ पृ० ३८३) में यों दिया है: 'भरुकच्छपुरेऽत्राऽऽसीद् भूपतिर्नरवाहनः।' तपागच्छकी एक प्राकृत पट्टावलीमें नाहवाहणका उल्लेख 'नहवाण' रूपमें हुआ है। इसीलिये हमने नहवाण लिखा है। (जैसा सं० भा० १ अंक ४ पृ० २११) जायसवालजीने भी यही शब्द प्रयुक्त किया है। (जविओसो०, १६ पृ० २८३).

आ घेरा; किंतु धनबलके समक्ष उसकी दाल न गली। वह दो वर्ष तक भृगुकच्छका घेरा डालकर हताश पैठणको वापस चला गया। सालिवाहनका मंत्री नहवाणके यहां आरहा; उसने नहवाणका धन धर्मकार्यमें खूब व्यय कराया। अनेक धर्मस्थान बनवाये और खूब दान-पुण्य किया। सालिवाहनने भृगुकच्छपर फिर आक्रमण किया और अबकी उसकी मनचेती हुई। निर्द्रव्य नहवाण उसके सामने टिक न सका। इस संग्राममें उसका सर्वथा नाश होगया। आवश्यक सूत्र भाष्यकी इस कथाको मम० श्री काशीप्रसादजी जायसवाल स्थूल रूपमें वास्तविक और तथ्यपूर्ण मानते हैं[१]। वह नहवाण (नरवाहन) को क्षत्रप नहवान और सालिवाहनको आन्ध्रवंशीय गौतमी पुत्र शातकर्णी सिद्ध करते हैं, जिसकी राजधानी पैठण थी। नहपानके सेनापति ऋषभदत्त द्वारा लिखाये गये नासिकवाले शिलालेखमें भृगुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन और सुरपारक नामक नगरोंमें धर्मस्थानोंको बनवानेका भी उल्लेख[२] है।

'गर्गसंहिता' में शकोंका अति लालची होना प्रगट है।

नहपान ही भूतबली आचार्य हुआ था। जायसवालजी गौतमी पुत्र शातकर्णीको ही प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य सिद्ध करते हैं; जिन्होंने ई० पूर्व ५८ में शकोंको परास्त

१–'सो विणट्ठो, नट्टं नयरंपि गहियं' (संस्कृत='निर्द्रव्यत्वान्नाशः') इस पदसे नरवाहनकी मृत्यु हुई कहना ठीक नहीं जंचता। बल्कि नरवाहनके राजत्वका नाश हुआ मानना ठीक है। यह कथा 'जविओसो' भा० १६ पृ० २८३–२९४ से उद्धृत की गई है।
२–Ep. Ind. VIII p. 78. ३–जविओसो० १६ पृ० २८४.

किया था। उक्त संग्राम इस घटनाका ही द्योतक है। उधर दिगम्बर जैन शास्त्र 'श्रुतावतार' में भी एक नरवाहन राजाका उल्लेख है[2]। इसके विषयमें वहां कथन है कि 'वह वांमि देशकी वसुन्धरा नगरीका राजा था। उसकी सुरूपा नामक रानीके कोई पुत्र नहीं था, जिसके कारण वह दुःखी रहती थी। राजश्रेष्ठी सुबुद्धिके कहनेसे नरवाहनने पद्मावती देवीकी पूजाकी और पुण्योदयसे उसके एक पुत्र हुआ। उसका नाम पद्म रक्खा गया। नरवाहनने इस हर्ष घटनाके उपलक्षमें सहस्रकूट एवं अन्य अनेक जिन मंदिर बनवाये। धर्म प्रभावनाके लिये रथयात्रायें निकलवाईं। कालांतरमें नरवाहनके राजनगरमें एक जैन संघ आया; जिसमें उसका मित्र मगधका राजा मुनि था। उसके उपदेशसे नरवाहन मुनि होगये। सुबुद्धि श्रेष्ठी भी मुनि होगया। ये ही दोनों मुनि गिरिनगर (जूनागढ़) धरसेनाचार्यके निकट आगम शास्त्रकी व्याख्या सुननेके लिये गये थे। उसे सुनलेनेके पश्चात उन्होंने अंकलेश्वरपुर (भड़ोच-भृगुकच्छ) में षट्खण्डागम शास्त्रकी रचना की थी। ये क्रमशः भूतबलि और पुष्पदन्त नामसे प्रसिद्ध हुए थे[3]। यह कथा उक्त श्वेतांबर कथासे नितांत

1-जविओसो० १६ पृ० २९१-२८२. २-सिद्धांतसारादिसंग्रह (मा० ग्रं०) पृ० ३१६-३१८. ३-'गिरिनगरसमीपे गुहावासी धरसेनमुनीश्वरोऽग्रायणीपूर्वस्य यः पंचमवस्तुकस्तस्य तुर्यप्राभृतस्य शास्त्रस्य व्याख्यानप्रारंभ करिष्यति।............भूतबलिर्नामा नरवाहनो मुनिर्भविष्यति............सद्बुद्धिः पुष्पदंतनामा मुनिर्भविष्यति।............ तन्मुनिद्वयं अंकलेसुरपुरे गत्वा मत्वा षडंगरचनां कृत्वा शास्त्रेषु लिखाप्य....इत्यादि।" —विबुधश्रीधरकृतः श्रुतावतार।

विलक्षण है । किन्तु देश, नगर व राजाके नाम इस कथाका लीला क्षेत्र भृगुकच्छके आसपास ही प्रगट करते हैं । देशका 'वांमि' नाम अनोखा है । यह शब्द संभवतः नागोंके वास बामीका द्योतक है; जिससे भाव उस प्रदेशके होसकते हैं कि जिसमें नागलोक रहते हों । सिंध-कच्छवर्ती देशको पुराणियोंने नागोंके कारण पाताल नाम दिया भी था। नाग लोगोंके मूल स्थान रसातल (मध्य एशिया) के दो भागोंमें शक लोग रहते थे ।[1] इसी कारण भृगुकच्छके आस-पासके देशको नागों-शकादिके वासस्थान रूपमें दिगंबराचार्य 'वांमी' नामसे उल्लिखित करते हैं । निस्सन्देह वह भृगुकच्छवर्ती देश होना चाहिये; क्योंकि गिरिनगर—अंकलेश्वर आदि नगर उसीके पास हैं । 'गर्गसंहिता'में [2]नहपानकी राजधानीका उल्लेख 'पुर' रूपमें हुआ है; जिससे स्पष्ट है कि वह एक प्रसिद्ध और समृद्धिशाली नगर था ।

वस्तुतः प्राचीन कालमें भृगुकच्छकी ऐसी ही स्थिति रहती थी[3] । इस अवस्थामें उसका उल्लेख वसुंधरा रूपमें करना अनुचित नहीं है । उक्त श्वेतांबर कथा नहवाण (नहपान)का सम्पूर्ण चरित्र प्रगट करनेके लिये नहीं लिखी गई है, बल्कि माया शल्यके द्रव्यप्रणिधि भेदके उदाहरण रूपमें उसका उल्लेख किया गया है[4] । वैसे ही 'श्रुतावतार' में भी दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थके लिखे जानेकी घट-

१ इंहिका०, भा० १ पृ० ४५९. २—जविओसो०, २४।४०८. "स्वकं पुरं" । ३—भृगुकच्छ बौद्धकालसे एक प्रसिद्ध बन्दरगाह और लाट देशकी राजधानी रहा है । बंप्राजैस्मा०, पृ० २०. ४—'मायायाम्' सा च द्विधा-द्रव्यप्रणिधिः भावप्रणिधिश्च । तत्र द्रव्यप्रणिधौ उदाहरणम्....अभिधानराजेन्द्रकोष, जविओसो, भा० १६ पृ० २९१.

नाको व्यक्त करनेके लिये नहवाण (नरवाहण) का आंशिक वर्णन है। उससे भी नहवाण (नरवाहण) द्वारा धर्मस्थानके बनने व दान पुण्य करनेका समर्थन होता है। संभवतः नरवाहण राज्यच्युत होने-पर दिगम्बर मुनि होगया था। राजभ्रष्ट होनेपर वह करता भी क्या? जब कि उसको वैराग्यका साधन मिलरहा था। इतिहाससे यह भी प्रगट है कि लियक (Liaka) नामक एक व्यक्ति संभवतः नह-पानका पुत्र था. जिसने उत्तर भारतमें जाकर तक्षिलामें ई० पू० ४५ में अपना राज्य जमाया था। श्रुतावतार कथा नरवाहन (नह-वाण) की ढलती उमरमें एक पुत्रका होना प्रगट करती है; क्योंकि अधिक वयतक जब नरवाहणके पुत्र नहीं हुआ तब ही उसने उक्त प्रकार पद्मावतीदेवीकी पूजा की प्रतीत होती है। मालूम होता है कि नहवाण (नरवाहन) राजाके जीवनकी वास्तविक घटनाओं अर्थात् उसको शकजातिका प्रसिद्ध नरवाहन (नहवाण) कहना, धर्मकार्यमें द्रव्य व्यय करना. अति धनवान होना. उसकी अधिक उमरमें एक पुत्र होना आदि—को लेकर 'श्रुतावतार' के लेखक विबुध श्रीधरने उस कथाको अपने ढंगपर लिखा है और यह बतला दिया है कि नर-वाहन (नहवाण) ही भूतबलि मुनि हुये थे।

इन सब बातोंको देखते हुये. 'श्रुतावतार' के नरवाहन और 'आवश्यक सूत्रभाष्य' के नहवाण. जिसका संस्कृत रूप वहां भी नरवाहन ही है. इतिहास-प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान मानना अनुचित नहीं है, अतः कहना होगा कि दि० जैन श्रुतका उद्धार शक नहपान द्वारा हुआ था!

१—जबिओसो० भा० १६ पृष्ठ २९०.

छत्रप रुद्रसिंह जैनी । छत्रपवंशमें नहपानके अतिरिक्त उपरांत छत्रप रुद्रदामनके पुत्र रुद्रसिंह जैनी होना संभव है । उसने सन् १८०में १९६ ई०तक राज्य किया था। उसका एक लेख चैत्र शुक्ला पंचमीका लिखा हुआ भग्न दशामें जूनागढ़में मिला है: जिसमें "केवलज्ञानसंप्राप्ताणां" पद मिलता है । इस पदके कारण, क्योंकि 'केवलज्ञान' जैनोंका एक पारिभाषिक शब्द है, बुल्हर आदि विद्वान् रुद्रसिंहको जैन धर्मानुयायी प्रगट करते हैं[१] । जूनागढ़का 'बावा प्याराका मठ' और अपरकोटकी गुफाओंको भी विद्वान् जैनोंकी बताते हैं।[२] श्रुतावतारमे गिरिनगर (जूनागढ़) के निकट स्थित गुफाओंमें दि० जैन मुनियोंका होना सिद्ध है[३] ! इन इमारतोंको छत्रप रुद्रसिंहने ही संभवतः बनवाया था ।

शक-सम्वत । शक संवतके विषयमें कोई निश्चित मत नहीं है । फर्गुसनने उसे कनिष्कका चलाया हुआ अनुमान किया है।[४] किन्तु आज उस मतके विरुद्ध अनेक प्रमाण मिलते हैं । पण्डित भगवनलाल और जैक्सन सा० इस संवतको नहपान द्वारा गुजरात विजयकी स्मृतिमें

१-आर्केलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट ऑफ वेस्टर्न इन्डिया, भा० २ पृ० १४०. २-इंऐ०, भा० २० पृ० ३६३....३-'श्रुतावतार' में धरसेनाचार्यको गिरिनगरके निकटकी गुफाका निवासी लिखा है। (गिरिनगरसमीपे गुहावासी धरसेनमुनीश्वरो) और गिरिनगर जूनागढ़का प्राचीन नाम है । (देखो कजाइ० पृष्ठ ६९८). ४-इंऐ०, भा० २० पृ० ३६४. ५-भाप्रारा० भा० १ पृ० ३.

चला मानते हैं।[1] डा० फ्लीट भी इस मतसे सहमत थे।[2] कनिंघम और डुब्रुयल चष्टनको शक संवतका चलानेवाला प्रगट करते हैं।[3] सर जॉन मार्शल अजस प्रथम (Azes I) द्वारा उसका चलना अनुमान करते हैं।[4] किन्तु विद्वानोंने इन मतोंको निस्सार प्रगट कर दिया है। यद्यपि वे सब उसे सन ७८ ई०से चला माननेमें एक मत हैं।[5] उधर भारतीय पण्डितोंका पुरातन मन्तव्य शक संवतके विषयमें यह रहा है कि प्रतिष्ठानपुरके राजा शालिवाहन (=सातवाहन) ने शकोंको पराम्त करके इस संवतको चलाया था। जिनप्रभसूरिने 'कल्पप्रदीप' में लिखा है कि राजा शालिवाहनने शक संवत चलाया था। सातवाहन या शातिकर्णी उपाधिधारी राजा दक्षिण पैठनके आन्ध्रवंशमें हुये हैं, जिसका राज्यकाल ई० पूर्व पहली शताब्दिसे ईस्वी तीसरी शताब्दितक रहा था। कतिपय विद्वान् इस वंशके हाल नामक राजाको शकसंवतका प्रवर्तक शालिवाहन प्रगट करते हैं; क्योंकि हाल और शाल शब्द समवाची हैं।[6] किन्तु सम० काशीप्रसादजी जायसवाल कुन्तल शातकर्णीको शक शालिवाहन संवतका प्रवर्तक सिद्ध करते हैं।[7] वह बतलाते हैं कि शक नामके दो संवत थे। प्राचीन शक संवतका सम्बन्ध शकोंसे था। वह लगभग

१–बंबई गजेटियर भा० १ खंड १ पृ० २८. २–जराएसो०, १९१३ पृ० ९२२. ३–क्वाइन्स ऑफ इंडिया पृ० १०४ व इंए० १९२३ पृ० ८२. ४–जमीसो० भा० १८ पृ० ७०. ५–जमीसो० भा० १७ पृ० ३३४. ६–भाप्रारा० भा० १ पृ० ३ व जमीसो०, भा० १७ पृ० ३३४–३३९. ७–जमीसो०, भा० १७ पृ० ३३४–३३७. ८–जबिओसो०, भा० १६ पृ० २९९–३००.

१२० ई० पूर्वसे आरम्भ हुआ था। राजा कुशान और उविमकडिथसके लेखोंमें यही संवत मिलता है।[1]

दूसरा ऐतिहासिक शक संवत सन् ७८ में कुन्तल शातकर्णी द्वारा शकोंपर एक वार फिर विजय प्राप्त करनेके उपलक्षमें चला था। किन्तु जायसवालजी जैन शास्त्रोंके इस उल्लेखसे कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पश्चात शक राजा हुआ, सन ७८ से शकोंद्वारा भी चला एक संवत मानते हैं।[2] किन्तु इस जैन उल्लेखमें एक शक राजाका होना लिखा है, न कि उसमें शक संवतके चलनेका उल्लेख है।[3] इस दशामें जैन गाथाओंके आधारसे एक

१–जविओसो० १६ पृ० २३०–२४२. २–जविओसो० भा० १६ पृ० २००.

३–'णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥ ८९॥
—त्रिलोकप्रज्ञप्ति।

'त्रिलोकसार' में इस गाथाको निम्नप्रकार लिखा गया है:—
'पणछस्सयवस्सं पणमास जुदं गमिय वीर णिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहिय सगमासं॥ ८५०॥
श्रीजिनसेनाचार्यने 'हरिवंशपुराण' में इसीको संस्कृतमें इसप्रकार लिखा है:—'वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकं।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥'
इन गाथाओंमेंसे किसीमें भी शक संवत्के चलने या उसके प्रवर्तकका उल्लेख नहीं है। एकमात्र यही कहा गया है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पश्चात् शक राजा हुआ। अतएव इनसे शकोंद्वारा एक दूसरे संवत्के चलनेका पता नहीं चलता।

नये शक संवतका अस्तित्व बतलाना कुछ जीको नहीं लगता। दूसरी शकविजयके उपलक्षमें उसका चलना उपयुक्त है। दोनों ही विजय शातकर्णी वंशके राजाओं द्वारा भारतरक्षाकी महान विजय थीं: इसी कारण हिन्दू जनताने दोनों ही शकोंका उपयोग एकसाथ किया।

जैन गाथाओंका शकराजा नहपान।

हिंदू पण्डितोंमें विक्रम संवतके साथ शक सालिवाहन संवत लिखनेका एक रिवाज है और यह इस बातका प्रमाण है कि दोनों संवतोंका सम्बन्ध भारतीय राजाओंमें था न कि एक विदेशी राजामें भी। जैन गाथाओंका शकराजा इस अपेक्षा शक शालिवाहन संवतके प्रवर्तकसे कोई भिन्न पुरुष होना चाहिये। वह भिन्न पुरुष नहपान था। यह बात हम प्रथम खण्ड (पृ० १६२) में लिख चुके हैं। त्रिलोकप्रज्ञप्तिके उल्लेखानुसार उसका समय वीरनिर्वाणसे ४६१ अथवा ६०५ वर्षबाद होना प्रमाणित है। यदि वीर नि०से ४६१ वर्ष बाद उसको मानाजाय तो उसके होनेका समय ई० पूर्व ८४ (५४५-४६१) आता है। प्राचीन शक संवत्‌में नहपानका समय गिननेमें वह ई० पूर्व ८२ के लगभग बैठता है[1]। इस दशामें 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' का उक्त मत तथ्यपूर्ण प्रतिभाषित होता है। किन्तु इस अवस्थामें नहपानका राज्यकाल जो ४२ वर्ष बताया जाता है, उसमें भूमकका राज्य काल भी सम्मिलित समझना चाहिये। इस मतकी सार्थकताको देखते हुए शक राजाको वीर नि० से ६०५ वर्ष बाद मानना ठीक नहीं दिखता। मालूम होता है कि सन् ७८ को शकोंके सम्बन्धमे

१–जबिओसो० भा० १६ पृष्ठ २९०.

प्रसिद्ध हुआ जानकर जैनाचार्योंने उक्त मतका भी निरूपण कर दिया । यह भ्रम उपरोक्त दो शक-विजयोंके कारण हुआ प्रतीत होता है । अतः कहना होगा कि जैन गाथाओंका शक राजा नहपान है: जिसके द्वारा दिगंबर आगम लिपिबद्ध हुआ था ।

वासुदेवके समयमें कुशन-साम्राज्यकी दशा बिगड़ गई थी । अफगानिस्तान और मध्यएशियाके देश साम्राज्यसे अलग होगए थे। कहते हैं, इसी कालमें भारतमें बड़ी भारी महामारी फैली थी ।[1] जैन शास्त्रोंमें भी इस महामारीका उल्लेख मिलता है । मथुरामें इसका बहुप्रकोप हुआ बतलाया जाता है । यहां सात चारण ऋद्धिधारी ऋषियोंने आकर इस महा-रोगसे नगरको मुक्त किया था । जैन मंदिरोंमें आजतक इन महात्माओंकी पूजा होती है ।[2] इस समय मथुरामें जैन धर्मका अभ्युदय भी खूब हुआ था । कोई अनुमान करता है कि राजा वासुदेव भी जैन धर्मानुयायी होगया था । अन्ततः इन विदेशी राजाओंको गुप्तवंशके क्षत्रियोंने पराजित किया था और उनकी जगह अपना राज्य स्थापित किया था । इस कालमें विद्या और ललितकलाकी खूब उन्नति हुई थी । कात्यायन और पातंजलिके भाष्य इसी कालमें रचे गये । व्याकरणका विकास हुआ, चरक द्वारा रसायन और वैद्यक शास्त्रकी अच्छी उन्नति हुई । जैनोंके वाङ्मयका उद्धार और वह लिपिबद्ध भी इसी कालमें हुआ । यूनानीयों और भारतीयोंका सम्पर्क भी खूब बढ़ा । भारतके

कुशन साम्राज्यका पतन ।

१–भाइ० पृ० ८३. २–सप्तऋषि पूजा देखो. ३–जैसिभा० भा० १ कि० ४ पृ० ११६–१२४.

ज्योतिषियोंने उनसे नक्षत्रोंकी स्थिति और चालके विषयमें बहुत कुछ आदान प्रदान किया! भारहुत, सांची, अमरावती और मथुराके स्तूप तथा खंडगिरि-उदयगिरिकी गुफायें आदि इस समयकी उत्कृष्ट कलाके नमूने हैं। इस समय देशभरमें सर्वत्र बड़ी सुन्दर और विशाल इमारतें बनी थीं।

(२)

सम्राट् खारवेल।

(सन २०७-१६० ई० पूर्व)

कलिङ्गका ऐल चेदिवंश।

कर्मभूमिकी आदिमें श्री ऋषभदेवजीने भारतको विविध प्रांतोंमें विभक्त किया था। तब उन्होंने वर्तमानके ओड़ीसा प्रांतका नाम 'कलिङ्ग' रक्खा था! कलिङ्गके प्रथम सम्राट् ऋषभदेवजीके पुत्रोंमेंसे एक थे। भगवान ऋषभदेवने कैवल्य प्राप्त करके जब देश भरमें सर्वत्र विहार किया था, तब उनका समवशरण कलिङ्ग देशमें भी पहुंचा था; जिसके कारण जैनधर्मका वहांपर काफी प्रचार हुआ था। तत्कालीन कलिङ्गाधिप जैन मुनि होगये थे[1]। और कलिङ्गका शासनभार उनके पुत्रने ग्रहण किया था। परिणामतः कलिङ्गमें कोशलका यह इक्ष्वाकु वंश एक दीर्घ कालतक राज्य करता रहा था। 'हरिवंश पुराण' के कथनसे प्रगट है कि उपरांत बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थमें कौशलदेशमें हरिवंशी राजा दक्ष राज्य करता था। उसका पुत्र

१-हरि० ३।३-७ व ११।१४-७१.

ऐलेय और एक कन्या मनोहरी नामकी थी । राजा दक्षने अपनी कन्याको पत्नी बनानेका दुष्कर्म करडाला । ऐलेय और उसकी माता इला राजा दक्षसे रुष्ट होगये और कौशल देशको छोड़कर अन्यत्र चले गये । आखिर ऐलेयने ताम्रलिप्ति नगरको स्थापित किया और वह एक राजा बनगया । राजा ऐलेयने भारतको विजय किया और अन्तमें वह मुनि होगया । इन्हीं ऐलेयकी सन्ततिमें एक राजा अभिचन्द्र हुआ। जिसने विन्ध्याचलपर्वतके पृष्ठ भागमें चेदिराष्ट्रकी स्थापना की थी[1]। भ० अरिष्टनेमिके समय अर्थात महाभारत कालमें हरिवंशी राजकुमार जरत्कुमार कलिङ्गराजके जमाई थे और द्वारिकाके साथ यदुवंशीयोंके नष्ट होनेपर जरत्कुमार कलिङ्गराजमें जाकर राज्य करने लगे थे[2] । फलतः कलिङ्ग हरिवंशी क्षत्रियोंके शासनमें आगया ।

भ० महावीरके समयमें भी वहां हरिवंशी जितशत्रु नामके राजा राज्य करते थे । उनके पश्चात कलिङ्गके राजवंशका पता जैन शास्त्रोंमें नहीं मिलता । किन्तु जैन पुराणके उक्त वर्णनका समर्थन कलिङ्गराज ऐल खारवेलके हाथीगुफावाले प्रसिद्ध लेखसे होता है; जिसमें उन्हें 'ऐल चेदिवंश' का लिखा है और उनके पूर्वपुरुषका नाम 'महामेघवाहन' प्रगट किया है ।[3] विद्वानोंने इस चेदिवंशको दक्षिणकोशलसे कलिङ्गमें आया बतलाया है ।[4] वस्तुतः सन् २१३

१-हरि० ११।१-३-९ व जविओसो० भा० १३ पृ० २७७-२७९
२-हरि० (कलकत्ता) पृ० ६२३.
३-'ऐलचेतिराजवसवधनेन'-जविओसो० भा० १३ पृष्ठ २२३.
4-'This branch of the Chedis seems to have migrated into Orissa from Mahakosala.' —*JBORS III 482*.

ई० पू० में कौशलपर 'मेघ' कुलके राजाओंका अधिकार था, जो बलवान और कुशाग्र–बुद्धि थे।[1] इन्हीं राजाओंमें मेघवाहन राजा थे। संभवतः दक्षिणकोशलसे आकर उन्होंने ही 'ऐल चेदिवंश' के राज्यकी जड़ कलिङ्गमें जमाई थी। 'ऐल' वह कौशलके प्रसिद्ध राजा ऐलसे सम्बन्धित होनेके कारण विद्वानों द्वारा अनुमान किया गया है।[2] उधर उपरोक्त प्रकार 'हरिवंशपुराण' में स्पष्टतः चेदिराष्ट्रकी स्थापना राजा ऐलेयकी सन्तति द्वारा हुई कही गई है। चेदिराष्ट्रके संस्थापक और शासक होनेके कारण ही उपरान्त ऐलेयकी हरिवंशी सन्तति 'चेदिवंश' के नामसे प्रसिद्ध होगई और उसने अपने महान साहसी और यशस्वी पूर्वज ऐलेयके नामको भुलाया नहीं। अतएव यह स्पष्ट है कि कलिङ्गका वह राजवंश जिसमें सम्राट् खारवेल हुये, कोशलके हरिवंशी राजा ऐलेय और दक्षिणकोशलके चेदिवंशसे सम्बन्धित था। 'हरिवंशपुराण' से उक्त प्रकार भ० महावीर अथवा उनके बाद तक हरिवंशका शासन कलिङ्गमें प्रमाणित है। हिन्दू शास्त्रमें भी जन्मेजय राजके उपरान्त सब ही क्षत्रियोंको कोशल ऐलका वंशज प्रगट* करते हैं और कलिङ्गवंशको 'महाभारतकाल' से चला आता बताते हैं। उसका मगध-सम्राट् नन्दवर्द्धन द्वारा अन्त हुआ था।[3] कलिङ्गराज हतप्रभ होकर दक्षिणकोशलमें जारहे और उपरान्त मौर्य-साम्राज्यके पतन होनेपर उनके वंशजोंने अपना अधिकार फिरसे कलिङ्गमें जमा लिया!

१–जविओसो०, भा० ३ पृ० ४८३–४८४. २–जविओसो०, भा० ३ पृ० ४३४. * जविओसो, भा० १६ पृ० १९०. ३–जविओसो०, भा० ३ पृ० ४३९.

अतएव महामहोपाध्याय श्री काशीप्रसादजी जायसवालके शब्दोंमें यह स्पष्ट है कि कलिंगके सम्राट्

युवराज खारवेलका राज्याभिषेक !

'खारवेलके पूर्व पुरुषका नाम महामेघवाहन और वंशका नाम ऐल चेदिवंश था।' मालूम होता है कि खारवेलके पिताका स्वर्गवास उस समय होगया था, जब वह लगभग सोलह वर्षके थे। प्राचीनकालमें सोलह वर्षकी अवस्थामें पुरुष बालिग हुआ समझा जाता था। खारवेल जब सोलह वर्षकी अवस्थामें बालिग होगये, तो वह युवराज पदपर आसीन होकर राज्यशासन करने लगे थे। उस समयतक उनका राज्याभिषेक नहीं हुआ था। प्राचीन कालमें राज्याभिषेक २५ वर्षकी अवस्थामें होता था। अतः जब पच्चीस वर्षके हुये तो उनका महाराज्य अभिषेक हुआ था और वह एक राजाकी तरह राज्यशासन करने लगे थे। जिस समय खारवेल राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हुये उस समय उनका राज्य कलिङ्गभरमें विस्तृत था, जो वर्तमानका ओड़ीसा प्रांत जितना था। तब कलिङ्गकी प्रजाकी गणना भी खारवेलने कराई थी और वह ३५ लाख थी। जन समुदायकी गणना करानेका रिवाज मौर्योंके समय सुतरां उनसे पहलेसे प्रचलित प्रगट होता है। अशोकके समयमें ही कलिङ्गकी राजधानी तोसलि थी। खारवेलने भी अपनी राजधानी वहीं की थी। उन्होंने कोई नवीन राजधानी स्थापित की हो, यह मालूम नहीं देता। उनकी राजधानीका उल्लेख 'कलिङ्गनगरी' के नामसे हुआ है।

१-नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भा० १० पृ० ९०२.

खारवेल राज्यका प्रथम वर्ष।

राज्यसिंहासनपर आरूढ होनेके पहले वर्षमें खारवेलने अपनी राजधानीकी मरम्मत कराई थी; जिसके पर-कोटा, दरवाजे और इमारतें तूफानसे बरबाद होगये थे। इसके साथ ही उन्होंने खिबिर ऋषिके बड़े तालावका पक्का बांध बन्धवाया था। जिससे कि प्रजाको पानीकी तकलीफ न रहे और सिंचाईका काम भी बखूबी चल निकले। खारवेलने इसी समय कई राजोद्यान भी लगवाये थे; और अपनी पैंतीस लाख प्रजाकी मनस्तुष्टि की थी व विविध उपायों द्वारा उसको प्रसन्न किया था। सारांशतः राज्यसिंहासनपर बैठते ही उन्होंने अपने कार्योंसे यह विश्वास दिला दिया कि वह एक प्रजा-हितैषी राजा है।

खारवेलकी प्रथम दिग्विजय।

इस प्रकार अपने राज्यके प्रथम वर्षमें राजधानीका पुनरुद्धार और प्रजाको प्रसन्न करके खारवेलको अपना साम्राज्य दूर देशोंतक फैलानेकी सुध आई। यह भी किसी लालचसे नहीं; बल्कि धार्मिक भावसे। वह अपने लेखमें स्वयं कहते हैं कि उनकी देशविजयके साथ२ धार्मिक कार्य होते थे। उनका सबसे पहला आक्रमण पश्चिमीय भारतपर हुआ। उस समय वहांपर आन्ध्र अथवा सातवाहनवंशीय शातकर्णि प्रथमका शासनाधिकार था। उसका प्रभाव ओड़ीसाकी पश्चिमीय सीमातक व्याप्त था और दक्षिणमें भी उसका अधिकार था! खारवेलने उसके इस प्रतापकी जरा भी परवा नहीं की। संभवतः सन् १८२ अथवा १७१ ई० पू० के लगभग उनने काश्यप क्षत्रियोंकी सहायताके लिये शातकर्णिपर आक्रमण कर

दिया । इस युद्धका परिणाम यह हुआ कि मुशिक क्षत्रियोंकी राज-धानीपर खारवेलने अपना अधिकार जमा लिया । यह मुशिक क्षत्रिय कलिङ्गके निकट प्रदेशमें बसनेवाले दक्षिणी लोग माने गये हैं । काश्यप क्षत्री दक्षिण कौशलके निवासी थे और संभवतः खारवेलके सम्बन्धी थे ।

राजधानीमें उत्सव ।

शातकर्णि और मुषिकोंसे निबटकर खारवेल अपनी विजयी चतुरंगिणी सेना सहित तोसलिको लौट आये और वहां आकर उन्होंने अपनी प्रजाके चित्त रञ्जनार्थ अनेक प्रकारके उत्सव किये थे । नाचरङ्ग, गानवाद्य और प्रीतिभोज तथा समाज भी हुये थे । इन महोत्सवोंमें प्रजाके लिये युद्धका संताप भूल जाना स्वाभाविक था । अपने राज्यके चौथे वर्षमें खारवेलने 'विद्याधर आवास' का पुनरुद्धार किया प्रतीत होता है ।

खारवेलका राष्ट्रिक और भोजकपर आक्रमण ।

इसी वर्ष खारवेलका दूसरा आक्रमण फिर पश्चिमीय भारतपर हुआ और अबकी उन्होंने राष्ट्रिक एवं भोजक क्षत्रियोंसे लड़कर खेत लिया । ये दोनों राष्ट्र शातकर्णिके पड़ोसी अनुमान किये गये हैं । वे महाराष्ट्र और बरारमें रहते बताये हैं । भोजकोंका संभवतः प्रजातंत्र राज्य था । खारवेलने इन क्षत्रियोंके राजाओंके छत्र और भिङ्गार छीनकर नष्ट करदिये थे और उनको बिल्कुल पराजित कर दिया था । उनको मुकुट विहीन बना दिया था । और वह अपनी विजय वैजयन्ती फहराते हुए सानन्द कलिङ्गको लौट आये थे ।

कलिङ्गमें वापस आकर खारवेलने फिर जन साधारणके हितकी सुध ली। उन्होंने तनसुतिय स्थानसे एक

तनसुतिय नहर व जनपद संस्था।

नहर निकलवाकर अपनी राजधानीको सरसब्ज बना लिया। प्रजाको भी इस नहरसे सिंचाईका बड़ा सुभीता हुआ। यह नहर उस समयसे तीनसौ वर्ष पहले नन्दराजाके समयमें बनवाई गई थी। उसीका पुनरुद्धार करके खारवेल उसे अपनी राजधानी तक बढ़ा लाये थे। अपने राज्यके छठे वर्षमें उन्होंने दुःखी प्राणियोंकी अनेक प्रकारसे सहायता की थी और पौर एवं जानपद संस्थाओंको अगणित अधिकार देकर प्रसन्न किया था।

यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जासक्ता कि खारवेलका विवाह कब हुआ था, किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके

खारवेलकी रानियां व पुत्र लाभ।

दो विवाह हुये थे। उनकी दोनों रानियोंके नाम शिलालेखमें मिलते हैं। एक वजिरघरवाली कही जाती थी और दूसरी सिंहपथकी सिंधुड़ा नामक थीं। वजिरघर अब मध्यप्रदेशका वैरागढ़ है। खारवेलके समयमें वहांके क्षत्री प्रसिद्ध थे। उन्हींकी राजकुमारीके साथ खारवेलका विवाह हुआ था। एक उड़िया काव्यमें इस घटनाका उल्लेख अनोखी कल्पनामें किया गया है, जिसमें राजकुमारीकी वीरताको खूब दर्शाया गया है। इन्हीं वजिरघरवाली रानीसे खारवेलको अपने राज्यके सातवें वर्षमें संभवतः एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई थी।

उड़िया काव्यसे प्रगट है कि खारवेलने दक्षिण भारतको भी विजय किया था। खारवेलके शिलालेखमें

खारवेलका मगधपर आक्रमण। भी उल्लेख है कि उन्होंने पांड्य देशके राजाओंसे भेंट प्राप्त की थी। अतएव यह कहना होगा कि खारवेलने दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) पर अपना सिक्का जमा लिया था और उन्हें एक मात्र उत्तरापथ (उत्तर भारत) को विजय करना शेष रहा था। उस समय भारतवर्षके साम्राज्य-सिंहासनपर चढ़नेकी कामना चार आदमियोंको हुई थी। अर्थात् (१) मगधके शुंगवंशीय ब्राह्मण पुष्पमित्र, (२) आंध्रवंशी शातकर्णि प्रथम, (३) अफगानिस्तान और वाल्हीकका यवन राजा दमेत्रिय (Demeterioo) और (४) स्वयं खारवेल। इनमेंसे शातकर्णिको तो खारवेल परास्त कर चुके थे। बस, उनके लिये पुष्पमित्र और दमेत्रियसे बाजी लेना बाकी था। पुष्पमित्रने 'अश्वमेध' यज्ञ करके चक्रवर्तीपद पाया था! खारवेलके समान पराक्रमी और धर्मवत्सल राजाके लिये यह सहन करना सुगम नहीं था कि उनके जीतेजी एक अन्य राजा ' चक्रवर्ती ' कहलाये और अश्वमेधादिमें पशु हिंसा करता रहे: जब कि मौर्यकालसे अहिंसा धर्मकी भारतमें प्रधानता रही हो।

अतएव खारवेलने मगधपर धावा बोल दिया। इसी समय दमेत्रिय पटनाको घेरे हुये था। और वह भारत-विजय करनेकी अपनी कामनामें प्राय: सिद्धार्थ होचुका था। किन्तु खारवेल ज्योंही झार-खंड-गयासे होते हुये मगध पहुंचे और राजगृह तथा गोरथगिरिके दुर्गोंमेंसे अंतिमको सर कर लिया कि दमेत्रिय खारवेलकी चढ़ाईका हाल सुनकर तथा अपने खास राज्यमें विद्रोहका उपद्रव उठते देख पटना, साकेत, पंचाल आदि छोड़ता हुआ मथुरा भागा और मध्य देश-

मात्र छोड़ वहांसे निकल गया। खारवेल गोरथगिरिको विजय करके वापस कलिङ्ग लौट आये। यह घटना उनके राज्यके सातवें वर्षमें हुई थी!

खारवेलका दान व अर्हत्-पूजा।

कलिङ्ग लौटकर खारवेलने अपने राज्यके नवें वर्षमें खूब दान-पुण्य किया। इस दान-पुण्यका पूरा वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु यह ज्ञात है कि उन्होंने सोनेका कल्पवृक्ष और हाथी, घोड़े, रथ आदि अनेक वस्तुएं दान की थीं। इस दान-कर्ममें उन्होंने ब्राह्मणोंको भी संतुष्ट किया था। अर्हत् भगवानका अभिषेक और पूजा विशेष समारोहके साथ किये थे। अड़तालीस लाख चांदीके सिक्कोंको खर्च करके उन्होंने प्राची नदीके दोनों तटोंपर एक 'महाविजय' नामक विशाल प्रासाद बनवाया था।

खारवेलका भारतपर आक्रमण।

उक्त प्रकार धर्मध्यान और जन रञ्जनमें एक वर्ष व्यतीत करके खारवेलने अपने राज्यके दशवें वर्षमें 'भारतवर्ष' (Upper India) पर धावा बोला था। इस आक्रमणमें खारवेलने किस राजाको पराजित किया, यह तो विदित नहीं; किन्तु यह स्पष्ट है कि वह अपने उद्देश्यमें सफल हुये थे। उपरान्त कलिङ्ग लौटकर उन्होंने ग्यारहवें वर्षमें अपनेसे पहले हुये एक दुष्ट राजा द्वारा निर्मित राजसिंहासनको बड़ेर गधोंसे जुते हुये हलोंको चलवाकर नष्ट करा दिया और तबसे ११३ वर्ष पहलेकी बनी उसकी ताम्रमूर्तिके टूक-टूक करा दिये! मालूम होता है कि उक्त दुष्ट राजाने जैन धर्मकी अप्रभावना की थी। इसीलिये उनके चिन्होंको रहने देना खारवेलने उचित नहीं समझा था।

मगधपर आक्रमण व महान विजय।

गोरथगिरिको जीतकर जब खारवेल मगधसे लौटकर आये, तो वहांके वृद्ध शासक पुष्यमित्रने मगधकी रक्षाका विशेष प्रबंध किया। 'अपने लड़कों द्वारा उन्होंने वैराज्य स्थापित किया अर्थात् स्वयं सम्राट् न हुए, उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्मके नामसे स्वयं अपनेको सिर्फ सेनापति कहते हुये राज्य करते रहे।' मगधका प्रांतिक शासक पुष्यमित्रके आठ बेटोंमेंसे एक अर्थात् बृहस्पतिमित्र नियुक्त हुआ। पुष्यमित्रने फिरसे अश्वमेध मनाया! मालूम होता है कि खारवेलको यह सहन न हुआ। उसपर उन्हें मगध विजय करके 'चक्रवर्ती' पद पाना शेष था। इस लिये अपने पहले आक्रमणसे चार वर्ष बाद ही उन्होंने फिर आक्रमण कर दिया। उत्तरापथके राजाओंको जीतते हुये वह मगधमें जा निकले। हिमालयकी तलहटीसे वह ठीक मगधकी राजधानीके सामने जा पहुंचे थे। गङ्गाको उन्होंने कलिङ्गके बड़े २ हाथियोंके सहारे पार कर लिया था। इस मार्गमें उन्हें सोन नदीके भयानक दल-दलोंका कष्ट नहीं उठाना पड़ा था। फलतः वह पाटलिपुत्रमें दाखिल होगये और नन्दोंके समयके प्रख्यात राजमहल 'सुगाङ्ग' के सामने जा डटे थे। बृहस्पतिमित्र खारवेलकी पराक्रमी सेनाके सम्मुख टिक न सका। खारवेलने उससे अपने पैरोंकी वन्दना कराई। नंदराजा द्वारा लाई गई जिन मूर्तियां वे मगधसे वापस कलिङ्ग लेगये तथा मगधके तोशकखानेसे अंग मगधके रत्न प्रतिहारों समेत उठा लेगये। वस्तुतः खारवेलकी यह महा विजय थी और इसके उपलक्षमें कलिङ्ग लौटकर खारवेलने जैनधर्मका एक महा धर्मा-

नुष्ठान किया था। किंतु खारवेलके इस पराक्रम, चातुर्य और रण-कौशलको देखकर दङ्ग रह जाना पड़ता है। एक ही वर्षमें वह कलिङ्गसे चलकर उत्तर भारतके राजाओंको जीतते हुये मगध जा पहुंचते हैं और वहांके राजाको परास्त कर डालते हैं! उनका यह कार्य ठीक नेपोलियनके ढङ्गका है!

पांड्यदेशके नरेशकी भेंट।

इस महाविजयके साथ ही खारवेलको सुदूर दक्षिणके पाण्ड्य-देशके नरेशसे बहुमूल्य रत्न, हाथियोंको ले जानेवाले जहाज आदि पदार्थ भेंटमें मिले थे। यह पदार्थ अद्भुत और अलौकिक थे। मालूम होता है कि खारवेलकी पाण्ड्य-नरेशसे मित्रता थी! इस प्रकार साम्राज्य विस्तारके इन प्रयत्नोंका फल यह हुआ कि कलिङ्गका साम्राज्य बढ़ गया। तथापि उस समयके प्रसिद्ध राज्य मगधपर अपना अधिकार जमाकर खारवेलने अपने आपको समग्र भारतमें सर्वोपरि शासक प्रमाणित कर दिया। वह भारतवर्षके सम्राट् होगए।

तत्कालीन दशा।

यहां यह दृष्टव्य है कि उस समय कलिंगकी गणना भारत-वर्षमें नहीं होती थी। इस कालके दो शता-ब्दि बाद समग्र भारतका उल्लेख 'भारतवर्ष' के नामसे होने लगा था। जैनधर्मका इस समय बहु प्रचार था। मौर्य्य साम्राज्यके नष्ट होनेके पश्चात अवश्य ही जैनधर्मकी प्रभा शिथिल होगई थी। शुङ्गवंश एवं दक्षिणके सातवाहन वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। उनके द्वारा वैदिक धर्मको उत्तेजना मिली थी और अश्वमेधादि यज्ञ भी हुए थे। किन्तु खार-

वेलने जैनधर्मकी इस हीनप्रभाको द्युतिमान् बना दिया। जैन धर्मका पुनरुद्धार होगया। कलिङ्गमें तो वह बहुत दिनों पहलेसे राष्ट्रीय धर्म होरहा था। किन्तु जैन धर्मको उस समय तक केवल एक दर्शन सिद्धान्त मानना कुछ जीको नहीं लगता। ब्राह्मण वर्ण जैन धर्ममें भी है। अतः जिन ब्राह्मणोंको खारवेलने भोजन कराया था, उनका जैन होना बहुत कुछ संभव है। कल्पवृक्ष जैनशास्त्रोंमें मनवांछित फलको प्रदान करनेवाले माने गए हैं। खारवेल भी अपनी प्रजाके लिये कल्पवृक्षके समान सब कुछ प्रदान करके महान् उदार और प्रजावत्सल बनना चाहता था। इसीलिये उन्होंने कल्पवृक्षका दान किया था। करुणाभावसे सब प्राणियोंको दान देना जैन धर्म उचित बतलाता है। जैन शास्त्रोंमें क्षत्री साधुओंका विशेष उल्लेख मिलता है। खारवेलके समय वह एक प्रख्यात् साधु समुदाय होरहा था। खारवेल जैनधर्मावलम्बी था, परन्तु वैदिक विधानानुसार उसका महाराज्याभिषेक हुआ और उसने राजसूय-यज्ञ भी किया था। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि तब जैन धर्ममें साम्प्रदायिक कट्टरता इतनी नहीं थी कि वह प्राचीन राष्ट्रीय नियमोंके पालनमें बाधक होता।

खारवेलका राज्य प्रबंध।

खारवेल प्रजाहितैषी राजा थे। वह नहीं चाहते थे कि वह एक स्वाधीन राजाकी तरह शासन करें और प्रजाको पराधीनताका कष्ट अनुभव करने दें। इसीलिये उन्होंने 'जनपद' और 'पौर' संस्थायें स्थापित की थीं। यह संस्थायें आजकलकी म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंके समान थीं। 'पौर' संस्था पुर अथवा राजधानीकी संस्था थी। जिसके परामर्शसे वहांका शासन

होता था। जनपद ग्रामीण जनताकी द्योतक है; जिनकी संस्था 'जनपद' कहलाती थी। उन लोगोंका शासन-प्रबंध उसके द्वारा होता था। इस प्रकार खारवेलने जनताको शासन प्रबन्धमें सम्मिलित कर रक्खा था। यही कारण है कि खारवेलके कलिङ्गसे बाहर लड़ाइयोंमें व्यस्त रहनेपर भी राज्यशासन समुचित रीतिसे चालू रहा था। कलिङ्गतर राष्ट्रोंसे उन्होंने साम, दण्ड और संधि नीतियोंके अनुसार व्यवहार किया था।

खारवेलका राजनैतिक जीवन।

खारवेलके हाथोंमें राज्यकी बागडोर छोटी उम्रमें आई थी। वह भी उस नन्हीं उम्रमें एक आदर्श राजा बन गये थे। क्रोध और अत्याचार तो खारवेलके निकट छूतक नहीं गया था। वह एक जन्मजात योद्धा और दक्ष सेनापति होते हुए भी एक आदर्श नृप थे। उन्होंने अपनी प्रजाको प्रसन्न रक्खा था; जिसका उल्लेख उनने अपने शिलालेखमें बड़े गर्वके साथ किया है। खारवेल अपनेसे पहलेके राजाओं और पूर्वजोंका आदर करते थे। इस दृष्टिसे खारवेल अशोकसे बाजी लेजाते हैं; क्योंकि अशोकने अपने पूर्वजोंका उल्लेख केवल अपनी महत्ता प्रगट करनेके लिये किया है। खारवेलके समयमें वास्तु विद्याकी उन्नतिको उत्तेजना मिली थी। उसने स्वयं बड़े २ महल, मंदिर और सार्वजनिक संस्थाओंके भव्य भवन निर्मापित कराये थे। उनके द्वारा ललितकलाकी भी विशेष उन्नति हुई थी। पूर्ण दक्ष कारीगरों द्वारा उनने सुन्दर पच्चीकारी और नक्काशीके स्तंभ बनवाये थे। सचमुच जब २ वह दिग्विजयसे झण्डा फहराते हुए लौटते थे, तब २ वह अपने राज्यमें

प्रजा हित और धर्म संबंधी अनेक सुकार्य करते थे और मंदिर आदि बनवाते थे। इस बातका स्पष्ट प्रतिघोष उन्होंने अपने लेखके प्रारंभ (पंक्ति २) में कर दिया है। उनके राज्यकालमें कलिङ्गकी धन-संपदा भी खूब बढ़ी थी; क्योंकि समग्र भारतमें उन्होंने बहुमूल्य सम्पत्ति इकट्ठी की थी। इस समृद्धिशाली दशामें कलिङ्ग अवश्य ही रामराज्यका उपभोग कर रहा था और उसके आनन्दकी सीमाका वारापार न था। उसका प्रताप समस्त भारतवर्षमें व्याप्त था। खारवेलने प्रजाके मन बहलावके लिये संगीत और बाजेगाजेका भी प्रबन्ध किया था। यद्यपि खारवेल जैन थे; परन्तु उन्होंने जैनेतर धर्मोंका आदर किया था। उनका व्यवहार अन्य पाषण्डोंके प्रति उदार था और यह राजनितिकी दृष्टिसे उनके लिये उचित ही था। इस ओर उन्होंने कुछ अंशोंमें अशोकका अनुकरण किया था। अतएव इन सब बातोंको देखते हुये सम्राट् खारवेल एक महान् प्रजावत्सल और कर्तव्यपरायण राजा प्रमाणित होते हैं। शिलालेखमें खारवेलको 'ऐल महाराज, महामेघवाहन चेति राजवंश-वर्द्धन खारवेल श्री (क्षारवेल) लिखा है तथा उनका उल्लेख 'क्षेमराज; वर्द्धराज, भिक्षुराज और धर्मराज' रूपमें भी हुआ है। अन्तिम उल्लेखसे खारवेलके सुकृत्योंका खासा पता चलता है। उन्होंने प्रजामें, देशमें और समग्र भारतमें क्षेमकी स्थापना की, इसलिये वह क्षेमराज थे। साम्राज्य एवं धर्म-मार्गकी उन्होंने वृद्धि की इस कारण उनको वर्द्धराज मानना भी ठीक है। भिक्षुओं-श्रमणोंके लिये उन्होंने धर्म-वृद्धि करनेके साधन जुटा दिये; इस अवस्थामें उनका 'भिक्षुराज' रूपमें उल्लेख होना कुछ अनुचित नहीं है। अन्ततः धर्मराज तो वह

थे ही। धर्मके लिये उन्होंने अनेक कार्य किये–दान पुण्य किये, भव्य मंदिर बनवाये और धर्मके लिये लड़ाइयां भी लड़ीं। मगधकी लड़ाई लड़कर वह ऋषभदेवकी दिव्य मूर्ति कलिङ्ग लाये। उनकी रानीने उनको कलिङ्ग चक्रवर्ती कहा है।

खारवेलका गार्हस्थ्य जीवन।

खारवेलके पन्द्रह वर्ष कुमार क्रीड़ामें व्यतीत हुये थे। उन्हें सोलहवें वर्षमें युवराज पद मिला था, यह लिखा जाचुका है। कुमार कालमें उन्होंने विद्या और कलामें दक्षता प्राप्त की थी। शिलालेखमें लिखा है (पंक्ति २) कि खारवेलने राजनैतिक दण्डविधान (Law) और धर्मतत्वका सुचारु ज्ञान प्राप्त किया था। वह सब ही विद्याओंमें पारंगत थे। खारवेल देखनेमें प्रभावान और सुन्दर थे। उनके शरीरका रंग बिल्कुल गोरा नहीं था। वह प्रशस्त और शुभ लक्षणोंसे युक्त था, जिनका प्रकाश चारों दिशाओंमें फैल रहा था (चतुरंत लुठित)। बाल्याव-स्थामें वह राजकुमार वर्द्धमान सदृश बताये गये हैं। और सम्राट् वेणकी तरह उन्हें एक विजयी सम्राट् लिखा गया है। वस्तुतः खार-वेलका गार्हस्थ्य जीवन भी राष्ट्रीय जीवनके समान उन्नत और सुख-मय था। वे अपनी दोनों रानियोंके साथ धर्म, अर्थ, और काम पुरुषार्थोंका समुचित उपभोग कर रहे थे। वजिरघरवाली रानी उनकी अग्रमहषि (पटरानी) थीं। दूसरी रानी सिंधुडा संभवतः राजा ललाक-कसकी पुत्री थीं, जो हथीसहसके पौत्र थे। इन रानीके नामपर हाथी-गुफाके पास एक 'गिरिगुहा' नामक प्रासाद बनाया गया था। इसे अब रानी नौर कहते हैं। इन रानियोंका खारवेलके समान उन्नत-

ममा और धर्मात्मा होना स्वाभाविक है। वे प्रेमालु थीं, उदार थीं और शीलसम्पन्ना थीं।

उन्होंने भी भव्य जिनमंदिरोंको बनवाया था! खारवेलको उन रानियोंमें कितनी संतान पानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह कहा नहीं जासकता। किंतु वह उनके समान सुयोग्य सह धर्मिणियोंको पाकर एक आदर्श श्रावक बने थे, इसमें संशय नहीं। वजिरघर-वाली रानीके कोखमें जो पुत्र हुआ था, वही संभवतः खारवेलके बाद कलिङ्गका राजा हुआ था।

खारवेलके जैनधर्म प्रभावनाके कार्य।

खारवेलका धार्मिक जीवन अनूठा था। जब वह अपनी दिग्विजय पूर्ण कर चुके और सारे भारतवर्षमें उनकी धाक जम गई, तब उन्होंने विशेष रीतिसे धर्मानुष्ठानके कार्य किये थे। यह उनके राज्यके तेरहवें वर्ष अर्थात् सन् १७० ई० पू०की बात है। सम्राट् खारवेल कुमारी पर्वत (उदयगिरि) के अर्हत मंदिरमें जाकर विशेष भक्ति और व्रत उपवास करनेमें दत्त-चित्त हुये थे। इस प्रकार व्रत और उपवासमें लीन होनेका फल यह हुआ था कि वह अपने भवभ्रमणको नष्ट करनेके निकट पहुंच गये थे, क्षीणसंसृत हुये थे। श्रावकोंके व्रतोंका पालन उन्होंने सफलतापूर्वक कर लिया था (रत-उवास-खारवेल-सिरिना)। फलतः उन्हें जीव और देहकी भिन्नताका प्रत्यक्ष अनुभव होगया था। भेद-विज्ञानको उन्होंने पालिया था और यह संसारका नाश करनेके लिये पर्याप्त है। अतएव सम्राट् खारवेलको जो धर्मराज और भिक्षुराज कहा गया है, वह बिलकुल ठीक है। कुमारी पर्वत संभवतः भगवान

महावीरजीके समवशरणसे पवित्र होचुका था; क्योंकि भगवानके समो-शरणका कलिङ्गमें आनेका उल्लेख जैनशास्त्रोंमें मिलता है तथा खारवेलके शिलालेखमें स्पष्ट कहा है कि (पंक्ति १४) इस पर्वतपरसे जैन धर्मका प्रचार हुआ था। इस ही पर्वतपर खारवेल और उनकी रानीने अनेक मंदिर व विहार बनवाये थे। उनमें चारों ओरसे जैन श्रमण और विद्वान एकत्रित होकर धर्माराधन करते थे। वहांपर खारवेलने सुन्दर संगमरमरके पाषाण स्तंभ बनवाये थे; जिनमें घंटा लगे हुये थे।

ऐसे स्तंभ मध्यकालके बने हुये नेपालमें आज भी देखनेको मिलते हैं। इस प्रकार सम्राट् खारवेलके सुकार्योंमें उस समय खूब ही धर्मप्रभावना हुई थी। जैनधर्मका प्रचार ऋषियोंद्वारा दिगन्तव्यापी हुआ था। मालूम होता है कि खारवेलने कोई धार्मिक महोत्सव कराया था; क्योंकि शिलालेखमें कहा गया है (पंक्ति १६) कि सम्राट् खारवेलने 'कल्याणकों' को देखने, सुनने और उनका अनु-भव प्राप्त करनेमें जीवन यापन किया था। ('धमराजा पसंतो सुणतो अनुभवतो कलाणानि') यह महोत्सव आजकलके बिम्बप्रतिष्ठाओंके समय होनेवाले पंच-कल्याणकोंके समान ही होते थे, यह कहा नहीं जासक्ता। खारवेल द्वारा निर्मित गुफाओंका मूल्य अत्यधिक है। उनमें भगवान पार्श्वनाथजीकी जीवनलीला सम्बंधी चित्र दर्शनीय हैं। शिलालेखमें 'अर्कासन' नामक गुफाके बनवानेका उल्लेख है। ये सब गुफायें सुंदर और दर्शनीय हैं।

यूं तो खारवेलके सुकृत्योंमें जैन धर्मकी विशेष उन्नति हुई ही थी; किन्तु उनके सदप्रयत्नसे जो द्वादशाङ्ग-

जिनवाणीका उद्धार। वाणीके पुनरुद्धारका उद्योग हुआ था, वह विशेष उल्लेखनीय है; उनके शिलालेखमें (पंक्ति १६) स्पष्ट उल्लेख है कि खारवेलके समयमें द्वादशाङ्गवाणी लुप्त हुई मानी जाती थी। सम्राट् खारवेलने उसका यथासाध्य उद्धार किया था। उन्होंने जैन ऋषियोंका एक संघ एकत्रित किया था और उसके द्वारा इस उद्धारका सदप्रयास हुआ था। मि० जायसवालने शिलालेखके इस अंशका यह अर्थ प्रकट किया है कि "मौर्य्य राजाके समय जो ६४ विभागोंका चतुर्याम अङ्ग-सप्तिक लुप्त होगया था, उसका उद्धार खारवेलने किया।" इसका भाव स्पष्ट नहीं है; किन्तु मि० जायसवाल इसका पुनः अध्ययन करके खुलासा प्रकट करनेवाले हैं। कुछ भी हो, इस शिलालेखीय उल्लेखसे दिगम्बर जैनोंकी मान्यताका समर्थन होता है। दिगम्बर जैनोंका विश्वास है कि द्वादशाङ्गवाणीका विच्छेद श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके साथ होगया था, और उनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य केवल दशपूर्वके धारी एकके बाद एक १८३ वर्षमें हुए थे। अतएव चन्द्रगुप्त मौर्यके समय नष्ट हुआ अंगज्ञान १८३ वर्ष बाद तक केवल दशपूर्व रूपमें किञ्चित शेष रहा था।

इन दशपूर्वीयोंके उपरान्त नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस नामक पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके धारक २२० वर्षमें हुये थे। इन ग्यारह अंगों अर्थात् अंगज्ञानके धारकोंका अस्तित्व तब ही संभव है जब मौर्य्यराजासे १८३ वर्षके अन्तरालकालमें उनका पुनरुद्धार हुआ हो। सम्राट् खारवेलका उक्त कार्य इस अन्तराल

कालमें हुआ प्रकट होता है; क्योंकि जैन पट्टावलियोंके अनुसार भद्रबाहुजीसे १८३ वर्षोंमें हुये दशपूर्वीयोंका अन्तिम समय सन् २०० ई० पू० ठहरता है और इस समय खारवेल विद्यमान थे। इस दशामें कहना होगा कि खारवेलके शुभ प्रयत्नसे लुप्त-प्रायः अङ्गग्रन्थ पुनः उपलब्ध हुये थे। समग्र भारतके ऋषि कुमारी पर्वत पर एकत्र हुये थे और वहां जिन२को जिस२ अङ्गका जितना ज्ञान था, उसको प्रकट किया था और इस प्रकारके सहयोगसे अङ्गज्ञानका उद्धार होगया। साथ ही इस उल्लेखमें सम्राट् खारवेलका प्राचीन निर्ग्रंथसंघका पोषक होना प्रमाणित है। यह लिखा जाचुका है कि श्रुतकेवली भद्रबाहुजीके बादसे ही जैन संघमें भेद उपस्थित होगया था, जो ईसवी प्रथम शताब्दिमें पूर्ण व्यक्त हुआ था। सचमुच कलिङ्गमें उस जैन धर्मका प्रचार था जिसमें सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्यके समयमें आचार्य स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें एकत्र हुये जैन संघके द्वारा स्वीकृत अङ्ग ज्ञानको स्वीकार नहीं किया गया था।

(हॉ जै० पृ० ७०–७२ व जविओसो० भा० १३ पृ० २३६)

खारवेलका शिलालेख। सम्राट् खारवेलका हाथी गुफावाला शिलालेख भारतीय इतिहासके लिये बड़े महत्वका है। वेदश्रीके नानाघाटवाले शिलालेखके बाद प्राचीनतामें इसीको दूसरा नंबर प्राप्त है। यह करीब १५ फीट १ इंच लंबा और ५॥ फीट चौड़ा है और १७ पंक्तियोंमें विभक्त है। इसकी भाषा एक ऐसी प्राकृत है, जो अपभ्रंश प्राकृत, अर्धमागधी और पालीसे मिलती जुलती है तथा उसमें जैन प्राकृतके शब्द भी हैं। लिपि उत्तरीय ब्राह्मी है; जिसे

बुल्हर सा० सन् १६० ई०पू० इतनी प्राचीन मानते हैं । शिला-लेखमें कुल चार चिन्ह हैं । इनमेंसे प्रथम पंक्तिके प्रारम्भमें जो हैं, वह-(१) स्वस्तिका और (२) वर्द्धमंगल हैं । तीसरा चिन्ह 'नंदिपद' भी प्रथम पंक्तिमें है, परन्तु वह खारवेलके नामके ठीक बादमें अंकित है । यह चिन्ह अशोकके जाडगढ़के लेख एवं सिक्कों आदिमें भी मिलता है । चौथा कल्पवृक्ष लेखके अंतमें है । ऐसे ही चिन्ह उदयगिरिकी सिंह और वैकुण्ठ नामक गुफाओंमें हैं । यह शिलालेख सन् १७० ई०पू०के समय किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया प्रगट होता है, जो खारवेलसे वयमें बड़ा था । और जिसको उनका परिचय बाल्यकालमें था ।

नन्दाब्द । मि० जायसवालने पहले इस लेखमें (पंक्ति १६) मौर्याब्दका उल्लेख हुआ अनुमान किया था किंतु उनका यह अनुमान ठीक न निकला और उन्होंने इस पंक्तिको फिरसे पढ़ा है एवं इसका अर्थ जैन वांगमयका उद्धार करना प्रगट किया है, इस प्रकार यद्यपि मौर्य्याब्दका कोई उल्लेख इस लेखमें नहीं है; किंतु नन्दोंके एक अब्दका उल्लेख (पंक्ति ६) अवश्य है । विद्वान लोग इस नन्द अब्दको नंदवर्द्धन द्वारा प्रचलित किया गया प्रमाणित करते हैं । वह कहते हैं कि नन्दवर्द्धनका राज्य ई०पू० सन् ४५७ से प्रारम्भ हुआ था और सन् ४५८ ई० पू०से उनका अब्द प्रारम्भ हुआ था। सन् १०३० के समय जब अलबेरूनी भारतमें आया था तब यह नंदाब्द मथुरा और कन्नौजमें बहु प्रचलित था ।

(जविओसो०, भा० १३ पृ० २३७-२४१)

खारवेलके इस शिलालेखसे कलिङ्गमें जैन धर्मका अस्तित्व बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। हम देख चुके

कलिङ्गमें जैनधर्म।

हैं कि जैन शास्त्रोंमें तो उसे जैनधर्मसे संबन्धित भगवान ऋषभदेवके समयसे बताया गया है। फलतः कलिङ्गमें जिस प्राचीन कालसे जैनधर्मका सम्पर्क जैन शास्त्र प्रगट करते हैं, उसका समर्थन इस लेखसे होता है। पंक्ति १२ में स्पष्ट उल्लेख है कि नन्दराज कलिङ्ग विजयके समयमें रत्नों व अन्य बहुमूल्य पदार्थोंके साथ जिन भगवानकी एक मूर्ति भी लेगये थे। खारवेलने जब अङ्ग और मगधपर अपना अधिकार जमा लिया था, तब वह इस मूर्तिको वापिस कलिङ्ग लेआये थे। इस उल्लेखसे नन्दराजाका जैन धर्मानुयायी होना प्रमाणित है तथा यह भी सिद्ध है कि ओड़ीसासे जैनधर्मका सम्पर्क स्वयं भगवान महावीरजीके समयमें था। जैन मूर्त्तियां भी उस समय अर्थात् सन् ४५० ई० पू० के पहलेसे बनने लगी थीं। इस आधारसे मि० जायसवाल कहते हैं कि जब ओड़ीसामें सन् ४५० ई० पू० के पहलेसे जैनधर्म आगया था और जैन मूर्त्तियां बनने लगीं थीं; तब महावीर निर्वाण सन् ५४५ ई० पू० मानना ही ठीक है; जैसे वह प्रमाणित कर चुके हैं। (जीवओसो० भा० १ पृ० ९९-१०५)

उक्त शीलालेखमें सन् १७० ई० पू० तक जो २ बातें खारवेलके राज्यमें हुई थीं, उनका वर्णन

खारवेलका अंतिम जीवन और उनके उत्तराधिकारी।

है। इसके उपरांत ऐसा कोई निश्चयात्मक साधन प्राप्त नहीं है, जिससे खारवेलके अंतिम जीवनका पता चलसके। इस समय

खारवेलकी आयु करीब ३७ वर्षकी थी। खारवेल जैसे पराक्रमी वीर अवश्य ही इस समय हृष्टपुष्ट होंगे। अतः उनका सन् १७० ई० पू०से और १०-२० वर्ष और राज्य करना बहुत कुछ संभव है। हमारे विचारसे जब खारवेलके सुपुत्रकी अवस्था २४ वर्षकी होगई तब सन् १५२ ई० पू० में खारवेलका राज्य कार्यसे विलग होजाना प्राकृत सुसंगत है। इस समय वह वृद्ध होचले थे और यह भी संभव है कि उन्होंने जिन दीक्षा ग्रहण करली हो। जो हो, मि० जायसवाल जो उनका स्वर्ग वास काल सन् १६०-१५२ ई० पू० में मानते हैं, वह ठीक है। खारवेलके उत्तराधिकारी उनके सुपुत्र हुये थे। संभवतः उन्हींका उल्लेख खंडगिरीकी एक गुफाके शिलालेखमें है। उसमें उनको कलिङ्गाधिपतकुदेप श्री खर महामेघवाहन लिखा है। जबिओसो० भा० ३ पृ० ५०५) यह भी जैनधर्मानुयायी थे।

खारवेलका वंश गर्द-भिल्ल वंश है।

खारवेलके बाद कलिङ्गके इस प्रसिद्ध राजवंशका कुछ पता नहीं चलता; किन्तु भुवनेश्वरके एक संस्कृत ग्रंथमें मौर्योंके पश्चात् जिस राजवंशने कलिङ्गमें राज्य किया था, उसका परिचय 'भिल' वंशके नामसे दिया है। इस वंशमें कुल सात राजा हुये थे, जिनके नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं:—(१) एर भिल, (२) खर भिल, (३) मुर भिल, (४) नर भिल, (५) दर भिल, (६) सर भिल और (७) खर भिल द्वितीय। उक्त ग्रन्थमें जो समय इस वंशके राज्यकालका दिया है उससे पता चलता है कि ई० पू० ८० में इस वंशका अंत होगया था। विद्वान लोग इस वंशको खारवेलसे सम्बन्धित बतलाते हैं तथा उक्त राजाओंमें नं०

२ के राजाको खारवेल बतलाते हैं।[1] हिन्दू पुराणोंमें आन्ध्रवंशी राजाओंके समसामयिक राजवंशोंमें एक 'गर्दभिल' भी बताया गया है, जिसके कुल सात राजा थे।[2] खारवेल शातकर्णि प्रथमका सम-कालीन था और कलिंगमें मौर्योंके बाद उनके वंशने ही राज्य किया था। अतएव उक्त भिलवंश अथवा गर्दभिलवंशको खारवेलके राज-वंशका द्योतक मानना उचित है। मम० जायसवाल इस शब्दकी उत्पत्ति खारवेल नामसे ठहराते हैं। खारवेलसे खरवेल हुआ, खर और गर्दभ संस्कृतमें पर्यायवाची एक ही अर्थके शब्द हैं। और वेल शब्द भिलमें पलट दिया गया। इस रूपमें खरवेलसे 'गर्दभिल' या 'गर्द भिल' शब्द बन गया। जिनसेनाचार्यने इन्हीं राजाओंका उल्लेख गसभ राजाओंके नामसे किया है।[3]

इस वंशके अंतिम राजा खर भिल द्वितीय (खरवेल द्वितीय) ही उज्जैनके गर्दभिल अनुमान किये गये हैं क्योंकि दोनोंका समय एक है और वह विक्रमादित्यके श्वसुर थे।[4] विक्रमादित्य गर्दभिलका उत्तराधिकारी माना ही जाता है। कालकाचार्यने इसी गर्दभिल वंशके विरुद्ध शकोंको भेजा था। अतः इस उल्लेखसे खारवेलके राजवंशका राज्य उसके बाद पांच पीढ़ियों तक रहा प्रमाणित होता है। 'प्राची-महात्म्य' नामक पुस्तकमें एक चित्र नामक व्यक्तिका वर्णन है। विद्वज्जन उसको खारवेलका दादा अनुमान करते हैं। उसकी पत्नी

१–जविओसो०, भा० १३ पृ० १९१–१९६। २–जविओसो०, भा० १६ पृ० ३०३। ३–जविओसो०, भा० १६ पृ० ३०६–३०७। ४–जविओसो०, भा० १६ पृ० ३०५।

ब्राह्मणवर्णकी थी और उसके पुत्र उसके जीवनकालमें ही स्वर्गवासी होगये थे । फलत. उसके पौत्रका नन्हा बालक होना उचित है। खारवेलके शिलालेखमे यह प्रकट ही है कि बाल अवस्थामे ही कलिंगराज्यका भार उनपर आगया था ।

उड़िया ग्रन्थोंमें खारवेल ।

उपरोक्त पुस्तकोंके अतिरिक्त उड़ियाके " मद्‌ल पञ्जि " (Mudal Panji) नामक ग्रन्थमें भी खारवेलका वर्णन भोज नामसे हुआ अनुमान किया जाता है । इस ग्रन्थसे राजा भोजके राज्यका प्रारम्भ ई० पूर्व १०४से प्रमाणित होता है और खारवेल ई० पूर्व १०२ में युवराज हुए थे । संभवतः भोज नामकी प्रसिद्धिके कारण अथवा खारवेलके विरुद्ध भिक्षुराजके अपभ्रंश (भोजराज) के रूपमें यह नाम उक्त ग्रन्थमें खारवेलके लिये लिखा गया है । उक्त ग्रन्थसे प्रगट है कि खारवेल एक वीर, पराक्रमी, उदार, न्यायशील और दयालु राजा थे । उनके दरबारमें ७५० प्रसिद्ध कवि थे; जिनमें मुख्य कालीदास थे । उनके रचे हुये चनक और महानाटक नामक ग्रन्थ थे । महानाटकका प्रचार कहीं२ अब भी ओड़ीसामें मिलता है । खारवेलके द्वारा नावों. चर्खों और गाड़ियोंका प्रचार पहले२ कलिङ्गमें हुआ था । उन्होंने सारे भारतवर्ष-पर विजय प्राप्त की थी; सब ही राजाओंको अपना करद बना लिया था । सिन्धु देशके यवनोंको भी खारवेलने मार भगाया था ।[२]

'सारला महाभारत' नामक उड़िया काव्यमें भी खारवेलका वर्णन

१–जविओसो०, भा० १६ पृ० १९४–१९६ ।

२–जविओसो०, भा० १६ पृ० २११–२१९ ।

मिलता है। उससे प्रगट है कि खारवेलके पहले कलिङ्गमें बौद्ध राजा थे। खारवेलने ब्राह्मणोंको साथ लेकर उन्हें मार भगाया और आप स्वयं वहांके राजा बन गये। महान् सेना लेकर उन्होंने दिग्विजयकी और वह सार्वभौम सम्राट् होगये। वह भीम कालवेर वीर चक्रवर्ती कहलाते थे।

अन्तमें उन्होंने अपने धर्मगुरुके कहनेसे राज्यका त्याग कर दिया—विष्णु—कर (खर) को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके वह वनमें जाकर तपस्या करने लगे। शिलालेखमें उनके राज्यके १३ वें वर्षके उपरांत कोई वर्णन नहीं है। इसका कारण यही है कि थोड़े समय पश्चात् ही वह मुनि होगये थे। उक्त ग्रन्थोंसे भी उनका जैनी होना सिद्ध है। वह श्रावकके व्रतोंका अभ्यास पहले ही करने लगे थे। अन्तमें उनका मुनि होजाना स्वाभाविक था।

ईस्वी प्रथम शताब्दिमें कलिंग आंध्रवंशके राजाओंके अधिकारमें आगया। उसपर भी जैनधर्मका अस्तित्व वहां ११–१२ वीं शताब्दितक खूब रहा था; किन्तु उपरान्त मुसलमानोंके आक्रमणों एवं जैनेतर संप्रदायोंके प्राबल्यसे वहां जैन धर्मका प्रायः अभाव हो गया। इतनेपर भी आज वहां हजारोंकी संख्यामें 'सराक' (श्रावक) लोग मौजूद हैं, जो प्राचीन जैनी हैं, परन्तु अपनेको भूले हुये हैं। उनको पुनः जैन धर्ममें लानेका उद्योग होरहा है। सातवीं शताब्दिमें जब चीनी यात्री हुएनसांग यहां आया था; तब भी उसे कलिंगमें जैन धर्म उन्नतावस्थामें मिला था।[२]

१–नविओसो०, भा० १६ पृ० १९९–२०३। २–बं० वि० स्मा० पृ० ८७–८८।

संक्षिप्त संवत्वार विवरण:—

सन् ईसवी पूर्व

२२५ कलिंगमें चेदिवंश और दक्षिणमें सातवाहन राज्यका उदय।

२०७ खारवेलका जन्म;

१९२ खारवेलको युवराजपद प्राप्त हुआ;

१८८ पुष्यमित्रका राज्यारोहण;

१८३ खारवेलको राज्य-प्राप्ति;

१८२ शातकर्णि प्रथम राज्य करते और खारवेलका आक्रमण;

१७९ खारवेलका राष्ट्रिक व भोजक क्षत्रियोंपर विजय पाना;

१७८ तनसुलिय—वाट नहरको राजधानीमें लाना;

१७७ खारवेलने सम्राट्पद ग्रहण किया; महाराजाभिषेक व राजसूय यज्ञ हुआ;

१७६ संभवत: खारवेलको राजकुमारकी प्राप्ति;

१७५ गोरथगिरिकी लड़ाई, दमेत्रिय (डिमिट्रियस) का मथुरा छोड़जाना।

१७३ खारवेलका उत्तरापथपर आक्रमण:

१७२ खारवेल द्वारा कलिंगमें जैन पूजाका सुधार;

१७१ पुष्यमित्रकी पराजय;

१७० खारवेलका कुमारी पर्वतपर व्रत उपवास करना और मंदिरादि बनवाना; जैन संघ एकत्र होना और जैन वांगमयका उद्धार कराना। (संभवत: शिलालेख भी इसी वर्षमें उत्कीर्ण कराया गया था।)

१६०–१५२ संभवत: खारवेलका देहावसान हुआ।

१५२ पुष्यमित्रकी मृत्यु!

(३)

अन्य राजा और जैन संघ।

दिगम्बर-श्वेतांबर-भेद; उपजातियोंकी उत्पत्ति।

(सन् १०० ई० पू०—सन् २०० ई०)

ईसवीकी प्रारम्भिक शताब्दियां सुतरां उससे भी किंचित् पहलेका भारतीय इतिहास अन्धकारापन्न है।

तत्कालीन जैनधर्म। उस समयका कुछ भी ठीक पता नहीं चलता। तौभी जो कुछ भी परिचय प्राप्त है, उसके आधारसे यहांपर इस कालमें जैनधर्मके अस्तित्वका ज्ञान कराया जाता है। शक और कुशन आदि विदेशियोंका राज्य ई० से पूर्व प्रथम शताब्दिसे भारतमें उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रांतसे लेकर पंजाब, मथुरा और मालवा तक जमा हुआ था और इन स्थानों एवं इन विदेशियोंमें जैनधर्मकी मान्यता भी विशेष थी; यह लिखा जाचुका है। इनके अतिरिक्त उस समय उत्तर भारतमें जैनोंका सम्पर्क किन २ राजवंशोंसे था, यह ठीकसर बताना कठिन है।

रोहिलखण्ड उस समय अहिच्छत्रके राजाओंके अधिकारमें था।

अहिच्छत्रके राजवंशमें जैन धर्म। अहिच्छत्र (रामनगर—बरेली) के राजा लोग नागवंश अनुमान किये गये हैं।[1] इस वंशका अस्तित्व भारतमें महाभारतकाल अथवा राजा तक्षक नागके समयसे प्रमाणित है। यद्यपि यह वंश विदेशी और संभवतः हूण जातिका था; किन्तु

१—कंजाइं, पृ० ४१२।

जैन मान्यता इसका निकास इक्ष्वाकु नामक क्षत्रिय वंशसे हुआ प्रगट करती है। वस्तुतः नागवंशजोंके विवाह-सम्बन्ध भारतीय क्षत्री घराnोंसे होते थे। अहिच्छत्रमें इस वंशका राज्य संभवतः भगवान पार्श्वनाथजीके समयसे था। तत्कालीन राजाने भगवान पार्श्वनाथकी बड़ी विनय की थी। भगवान महावीरजीके तीर्थकालमें वहांके एक राजा वसुपाल थे। उन्होंने अहिच्छत्रमें एक सुन्दर और भव्य जैन मंदिर निर्माण कराया था।[१] वहांके कटारीखेडाकी खुदाईमें डा० फुहरर सा० ने एक समूचा सभा मंदिर खुदवा निकलवाया था। यह मंदिर ई० पू० प्रथम शताब्दिका अनुमान किया गया है और यह श्री पार्श्वनाथजीका मंदिर था। इसमेंमें मिली हुई नग्न जैन मूर्तियां सन् ९६ से १५२ तककी हैं। एक ईटोंका बना हुआ प्राचीन स्तूप भी वहां मिला था। वहां स्तंभपर एक लेख इस प्रकार था—'महाचार्यइन्द्रनंदिशिष्य पार्श्वपतिस्स कोट्टारी।'[२]

मथुराका नागवंश और जैनधर्म।

इन वस्तुओंसे ईसवी सन्के प्रारम्भ कालमें वहां जैनधर्मका विशेष प्रचार प्रकट होता है। एक समय मथुराके आसपास भी नागवंशका राज्य रह चुका है। उनकी राजधानी काष्ठा नगरी थी।[३] जैन समाजमें एक काष्ठासंघ विख्यात् है। उसका यह नामकरण उस नगरीकी अपेक्षा हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि काष्ठासंघका अपरनाम मथुराकी अपेक्षा माथुरसंघ है और जैन शास्त्रोंमें देश अपेक्षा प्रसिद्ध हुआ कहा भी गया है।[४] अतएव

१–भपा०, पृ० ३६८। २–संप्राजैस्मा०, पृ० ८१। ३–राइ०, भा० १ पृ० २३१। ४–जैहि०, भा० १३ पृ० २७२ मैनपुरीके सं०

काष्ठानगरमें एक समय और संभवतः उक्त नागवंशके राज्य कालमें ही जैनधर्मका प्रभाव विशेष था। वहांका जैनसंघ आज भी भारतके विभिन्न स्थानोंमें फैला हुआ है। यह भी संभव है कि उक्त नागवंशके राजा जैन संघके पोषक हों। संभवतः इसी कारण वहांका संघ खूब फूला फला था।

पांचाल राज्यमें जैनधर्म व दानवीर भवड़। मथुरासे उत्तर पूर्वकी ओर पांचाल राज्य था। उसकी राजधानी प्राचीन कालसे कांपिल्य थी। जैनोंके तेरहवें तीर्थङ्कर श्री विमलनाथजीका जन्मस्थान और तपोभूमि भी यही नगर था। विक्रमकी पहली शताब्दिमें यहांपर **तपन** नामक राजा राज्य करता था। उसी समय भावड़ नामक एक धर्मात्मा जैन सेठ यहां रहते थे। यह एक प्रतिष्ठित धनी व्यापारी थे। इनका व्यापार देश-विदेशसे होता था। जहाजोंमें माल भेजा जाता था। एक दफे दुर्भाग्यसे इनके सारे जहाज समुद्रमें डूब गये। इससे उनके व्यापारको बड़ा धक्का लगा। किन्तु वह धीरजसे व्यापार करते रहे। एक घोड़ीसे इनके भाग चमक गये। वहांके राजाने तीन लाख रु० में उस घोड़ीको भावड़से खरीद लिया था। उसके बछेड़ेको भावड़ने विक्रम राजाको भेंट किया। राजाने प्रसन्न होकर उन्हें महुआ आदि कई ग्राम दिये। भावड़ उन ग्रामोंका नायक बन गया। उनकी भावला नामक स्त्रीसे उनको भवड़ नामक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई।

१८६७के लिखे हुए एक गुटकेमें काष्ठासंघकी रीतियां काष्ठादि देशकी कहीं गई हैं (काष्ठासंघश्रिंजीयात्क्रिया काष्ठादि देशकः) अतः काष्ठा नाम देश अपेक्षा ही है।

यह बड़ा दानवीर था । शिक्षित और युवा होनेपर भवड़का विवाह घेटी सेठकी पुत्री सुशीलासे स्वयंवर विधिसे हुआ था । भवड़ सानंद काल्यापन कर रहा था कि अचानक यवन सेनाका आक्रमण हुआ ।

भवड़ इस लड़ाईमें बंदी हुआ और यवन लोग उसे अपने साथ लेगये । भवड़ वहां भी अपना धर्म-पालन करता रहा और उसने मंदिर भी बनवाये । उसने एक मासका उपवास किया और उसके पुण्यफलसे चक्रेश्वरीदेवीकी सहायता उसे प्राप्त हुई । उसकी सहायतासे भवड़ बन्धन मुक्त हुआ और तक्षशिलासे आदिनाथ प्रभुकी मूर्ति लेकर वह जहाजमें बैठा और महुआ आगया । अब सौभाग्यसे उसे समुद्रमें खोये हुए जहाज भी मिल गये । भवड़के दिन फिर गये । उस समय आचार्य वज्रस्वामीके उपदेशसे शत्रुंजय तीर्थका उसने उद्धार कराया और खूब दान-पुण्य किया । श्री आदिनाथ भगवानकी प्रतिमा वहां विराजमान कराई । वज्रस्वामी एक प्रतिभासम्पन्न साधु थे । उन्होंने दक्षिणके किसी बौद्ध सम्राट्को जैनी बनाया था । श्वेतांबर संप्रदायमें भवड़ सेठ और वज्रस्वामी बहु प्रसिद्ध हैं ।[1] न मालूम इस श्वेतांबर कथामें कितना सत्य है !

कोशाम्बी राज्यमें जैनधर्म ।

कोशाम्बीके पुरातत्वसे वहांपर जैनधर्मका विशेष सम्पर्क रहा प्रमाणित है । वहांसे कुशानकालका मथुरा जैसा एक आयागपट्ट मिला है; जिसे राजा शिवमित्रके राज्यमें शिवनंदिकी शिष्या बड़ी स्थविरा बलदासाके कहनेसे शिवपालि-

---

१–शत्रुंजय माहात्म्य—गुसापरि० जैनवि०, पृ० ९९–९६ ।

तने अर्हतोंकी पूजाके लिये स्थापित किया था। इस उल्लेखसे कोशाम्बीमें एक बृहत् जैन संघके रहनेका पता चलता है। यहींपर काश्यपी अर्हतोंके सं० १०में आषाढ़सेनने एक गुफा बनवाई थी। वह आषाढ़सेन अहिच्छत्रके राजा शोनकायनके प्रपौत्र और राजा वंगपाल व रानी त्रिवेणीके पौत्र थे। इनके पिताका नाम राजा भागवत था और इनकी मां वैहिदरी थीं। यह गुफा सन् १००—२०० ई० पू० के लगभग बनी थी।[२] यह प्रगट है कि अहिच्छत्रके राजाओंमें जैनधर्मकी मान्यता प्राचीन कालसे थी। साथ ही उक्त काश्यपी अर्हत शब्द भगवान महावीरका द्योतक प्रतीत होता है; क्योंकि भगवानका गोत्र काश्यप था। अतः यह संभव है कि उक्त गुफा जैनोंके लिये बनाई गई हो।

जैन राजा पुष्पमित्र। स्कंधगुप्तका लेख जो भिटारीके स्तम्भपर अङ्कित है, उसमें लिखा है कि स्कंधगुप्तने पुष्पमित्रको विजय किया था। यह पुष्पमित्र सन् ४५५ में राज्य कर रहा था। इस वंशका प्रारंभ सन् ७८ ई० से सन् ९३७ ई० तक चलता रहा था। इसका निकास कहांसे और कैसे हुआ था. यह कुछ ज्ञात नहीं है। राजा कनिष्कके समयमें यह वंश बुलन्दशहरके पास बस गया था और अपनेको जैन धर्मानुयायी कहता था।

जैन शास्त्रोंमें इस समय विक्रमादित्य नामक एक प्रसिद्ध सम्राट्का पता चलता है; यद्यपि इतिहासमें

१—संप्राजैस्मा०, पृ० २९. २—संप्राजैस्मा०, पृ० २८. ३—बंप्राजैस्मा०, पृ० १८७.

राजा विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि। इस नामके राजाका तब कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वास्तवमें विक्रमादित्य कोई खास नाम न होकर केवल उपाधि मात्र है। इस अपेक्षा उस समयके इतिहासमें इस नामका कोई राजा न मिलना कुछ अनोखापन नहीं रखता। अतः आवश्यक है कि तत्कालीन राजाओंमें ऐसे किसी वीर और पराक्रमी राजाका पता चलाया जाय, जो विक्रमादित्य उपाधिका अधिकारी होसके। इस अपेक्षा अब प्रायः सब ही विद्वान् इस समय एक विक्रमादित्य राजाका होना स्वीकार करने लगे हैं।[1] जैन शास्त्र कहते हैं कि वह गर्दभिल्लका पुत्र था। और प्रतिष्ठानपुरमें आकर उसने शकोंको परास्त करके भारतका विदेशी लोगोंसे उद्धार किया था। जैन, अजैन एवं शिलालेखीय आधारसे मम० काशीप्रसाद जायसवाल इस परिणामपर पहुंचे हैं कि यह विक्रमादित्य प्रतिष्ठानपुरके आन्ध्रवंशका गौतमीपुत्र शातकर्णि नामका प्रसिद्ध राजा था। 'गाथासप्तशती' के कर्ता राजा हालने (ई० सन् २१) एक गाथामें विक्कमाइच्च (विक्रमादित्य) की दानशीलताका वर्णन किया है। इस उल्लेखसे विक्रमादित्य उपाधिधारी राजाका उनसे पहले होजाना सिद्ध है। वस्तुतः आन्ध्रवंशमें गौतमीपुत्र शातकर्णि हालसे पहले होचुके थे। उनका समय ई० पूर्व १००–४४ है। जैन शास्त्र विक्रमादित्यको प्रतिष्ठानपुरसे आया बताते ही हैं और उनकी जीवनघटनायें भी गौतमीपुत्र शातकर्णिके जीवनसे मिलती हैं। इस कारण उन्हें गौतमीपुत्र शातकर्णी मानना ठीक

१–कैंहिइ०, भा० १ पृ० १६७–१६८, अलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, भा० २ पृ० ११३–१४७.

है। किन्तु जैन शास्त्र उन्हें गर्दभिल्लका पुत्र बताते हैं और गौतमीपुत्र संभवतः मेघस्वातिके पुत्र थे। इस भेदका सामञ्जस्य विक्रमादित्यको गर्दभिल्लका उत्तराधिकारी माननेसे होजाता है।

गर्दभिल्लवंश वस्तुतः आन्ध्रवंशसे भिन्न है। जैन और अजैन शास्त्र उनका उल्लेख अलग-अलग ही करते हैं और यह निश्चित् है कि प्रतिष्ठानपुरमें आन्ध्रवंशके राजा राज्य करते थे। अतएव प्रतिष्ठानपुरसे आया हुआ विक्रमादित्य गर्दभिल्लका पुत्र न होकर उत्तराधिकारी होना चाहिये। सोमदेवकी 'कथासरितसागर' से प्रगट है कि गौतमीपुत्रका वंशज कुन्तल शातकर्णि, जिसका राज्यकाल ७५-८३ ई० है, कलिंगके भिल्ल=(गर्दभिल्ल) राजाका जामाता था और उसने पुनः शकोंको उज्जैनीसे भगाकर 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की थी। इस प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी राजा आन्ध्रवंशमें दो हुए थे।[1] जैन लेखकने कुन्तलको गर्दभिल्लका जमाता जानकर पहले विक्रमादित्यको भ्रमसे उसका पुत्र लिख दिया प्रतीत होता है। इस दशामें पहले विक्रमादित्य अर्थात गौतमीपुत्र शातकर्णि जैन शास्त्रोंको विक्रमादित्य प्रगट होते हैं!

"आवश्यकसूत्रभाष्य" मे स्पष्ट है कि गौतमीपुत्रने नहपान शकको परास्त कर दिया था। उधर गौतमी पुत्र और ऋषभदत्तके शिलालेखों तथा नहपानके सिक्कोंसे प्रमाणित है कि गौतमी पुत्रने नहपानको मालवा, सौराष्ट्र आदि देशोंको शकोंसे मुक्त करदिया था।[2] यह घटना ई० पू० ५८ की है। जैन शास्त्र भी विक्रमादित्यको

१-जविओसो०, भा० १६ पृ० २९१-२७८. २-जविओसो०, भा० १६ पृ० २९१।

'शकारि' और उसे ई० पू० ५८ में उनपर विजय प्राप्त करते लिखते हैं। जैन ग्रन्थोंसे यह भी प्रकट है कि जब विक्रमादित्य इस असार संसारको छोड़गये तो उनके पुत्र विक्रम चरित्र अथवा धर्मादित्यने ४० वर्षोंतक मालवापर राज्य किया। धर्मादित्यके पुत्र भैल्यने ११ वर्षतक उस देशपर शासन किया। उपरांत नैल्यने १४ वर्षतक राज्यकिया। नैल्यका उत्तराधिकारी नहड़ वा नहद हुआ, जिसने १० वर्ष राज्य किया। उसीके समयमें सुवर्णगिरि (शिखिर सम्मेदजी) पर भगवान महावीरजीका एक विशाल मंदिर निर्माण हुआ था।[1] इन नामोंमें 'धर्मादित्य' उपाधि प्रकट होती है, और विक्रमचरित्र कुंतलशातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के अपरनाम[2] 'विक्रमशील' (चरित्र-शील) का द्योतक है।

कुंतलके समयमें शकोंद्वारा धर्मका विध्वंश पुनः होने लगा था। उसने शकोंको मार भगाकर धर्मरक्षा की थी। इसी लिये उसको 'धर्मादित्य' कहा गया है। किन्तु वह गौतमी पुत्रका उत्तराधिकारी न होकर उसके बाद उस वंशमें उतना ही प्रख्यात राजा था। गौतमीपुत्रका उत्तराधिकारी श्री बिल्व पुलोमवि प्रथम था। उक्त नामोंमें 'भैल्य' को बिल्व=(भिल्व भैल्य) का अपभ्रंश कह सक्ते हैं; किन्तु शेष दो नामोंका पता आन्ध्रवंशावलीमें लगाना कठिन है। 'नहद' संभवतः स्कन्दस्वातिका द्योतक हो।[3] जो हो. यह स्पष्ट है कि जैन लेखकने क्रमवार और ठीक नामोंसे विक्रमादित्यके उत्तरा-

---

१–जैसिमा० भा० १ किरण २–३ पृ० ३०। २–जविओसो०, भा० १६ पृ० २०६। ३–जविओसो० भा० १६ पृ० २७१–२७९।

धिकारियोंका उल्लेख नहीं किया है; यद्यपि वह आन्ध्रवंशके राजाओंका ही उल्लेख करता प्रतीत होता है।

विक्रमादित्य व जैनधर्म।

गौतमीपुत्र शातकर्णिने अपने राज्याभिषेकके १८ वें वर्षमें शकोंको परास्त किया था। उस समय अर्थात ई० पू० ५८ में उनकी अवस्था ४२ वर्षकी थी। आंध्र राज्यका भार उनपर ही बाल्यावस्थासे—जन्मसे ही आन पड़ा था। चौबीस वर्षकी आयु प्राप्तकर लेनेपर पुरातन प्रथाके अनुसार उनका राज्याभिषेक हुआ था। इन चौबीस वर्षोंमें उनके नामपर राजमाता गौतमीने, शिवाजीकी माता जीजाबाईके समान, राजकाज किया था। उनका कुल राज्यकाल ५६ वर्ष था। ई० पू० ४४ में वह इस संसारको छोड़ गये थे। जैनोंकी पट्टावलियोंमें जो वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात विक्रमादित्यका जन्म हुआ लिखा है तथा वीर निर्वाण संवत विक्रम संवतके आरम्भसे ४७० वर्ष पहले वीर निर्वाण हुआ मानकर प्रचलित है, उस १८ वर्षके अंतरका कारण मस० जायसवाल यही प्रगट करते हैं कि एक गणना गौतमी पुत्र शा० के जन्मसे राज्य करने (विक्रमका जन्म होने) की द्योतक है और दूसरी जिसके अनुसार वीर निर्वाण प्रचलित है उनकी शक विजयसे गिनी गई है; जिसकी स्मृतिमें वह संवत चला था, जो विक्रम संवतके नामसे प्रचलित है, उसमें इस बातका ध्यान नहीं रक्खा गया है कि वह घटना गौतमी पुत्र विक्रमादित्यके राज्यकालके १८ वर्षकी है। जैनोंके इस मतभेदसे भी विक्रमादित्यका गौतमी पुत्र शातकर्णि होना

प्रमाणित है ।[1] विक्रमादित्य अपने आरम्भिक जीवनमें ब्राह्मणधर्मके अनुयायी थे. किन्तु शेष जीवन उन्होंने एक जैन गृहस्थ श्रावकके समान व्यतीत किया था ।[2] जैन ग्रन्थोंमें उनका वर्णन खूब मिलता है । 'वैताल पंचविंशतिका' 'सिंहासन द्वात्रिंशतिका' 'विक्रम प्रबन्ध' आदि ग्रन्थोंमें उनके चारित्रको प्रगट करनेवाली कथायें मिलती हैं । सचमुच वह एक आदर्श जैन गृहस्थ. महान शासक और विद्या-रसिक राजा थे । उनके समयमें विद्या और कलाकी विशेष उन्नति हुई थी ।

विक्रम—सम्वत् ।

कहा जाता है कि विक्रमादित्यने अपनी शक विजयकी स्मृतिमें ई० पू० ५८ मे एक संवत् भी चलाया था और उस विक्रम संवत्का प्रचार जैनोंमें और उनके द्वारा विशेष हुआ था । किन्तु इतिहाससे पता चलता है कि यह जनश्रुति तथ्यपूर्ण नहीं है: क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णि. जो विक्रमादित्य प्रमाणित होता है. ने अपने शिलालेखोंमें संवत न लिखकर अशोक आदि प्राचीन राजाओंके समान अपने राज्यके वर्ष लिखे हैं तथा माल्वा और राजपूतानासे ऐसे सिक्के ई० पू० प्रथम शताब्दिके मिले हैं, जिनसे मालवगण द्वारा उक्त संवतका प्रचलित होना प्रमाणित है । उन सिक्कोंमें 'मालवगणकी किसी महान् विजय' का उल्लेख है ('मालवानां जय'--'मालवगणस्य जय') यह मालवगण राज्य तब पूर्वीय राजपूतानामें स्थित था । मालूम होता है जिस समय गौतमीपुत्र शातकर्णिने माल्वा

१—जविओसं० भा० १६ पृ० २९३—२९४ ।
२ जैन पट्टावली और विक्रम प्रबंध देखो ।

और सौराष्ट्रकी ओर शकोंपर चढ़ाई की थी. उस समय उक्त गणने उसमें गहरा भाग लिया था और विक्रमादित्यकी महान विजयको अपनी विजय समझकर उसकी स्मृतिमें उक्त सिक्के ढाले थे। उन्होंने इस महान विजयके उपलक्षमें संवत भी चलाया, जिसका प्रचार राजपूताना और मालवाके लोगोंमें होगया। वही कालान्तरमें विक्रम संवतके नामसे प्रसिद्ध होगया।

विक्रम संवत् व वीर संवत्।

विक्रम संवतकी उत्पत्ति उक्त प्रकार हुई स्वीकार करनेसे, जिसका स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है, जैनोंमें प्रचलित विक्रम संवत विषयक मान्यता अपना बहुत कुछ महत्व खो बैठती है, क्योंकि यह स्पष्ट होजाता है कि विक्रम संवत न तो विक्रमादित्यके राज्यारोहण कालसे हुआ और न वह उसकी मृत्युका स्मारक है। हां, जैनोंकी तद्विषयक मान्यतामें ऐतिहासिक तथ्यांश अवश्य है; क्योंकि वह इस बातकी द्योतक है कि विक्रमादित्यपर राज्यभार जन्मसे ही आगया था और अपने राज्यके १८वें वर्ष ई० पूर्व ५८में उन्होंने शक विजय की थी, जैसे कि लिखा जाचुका है। उधर विक्रम विषयक जो जैन उल्लेख उपलब्ध हैं उन सबमें यही कहा गया है कि वीरनिर्वाणसे ४७० बाद विक्रमराजा हुआ और किन्हीं गाथाओंमें स्पष्टतः उनका जन्म लिखा है। और यह निश्चित है कि विक्रम संवत ई० पू० ५८से विक्रमादित्य (गौतमीपुत्र शातकर्णि) की शकविजय विषयक घटनाके स्मारकरूपमें चला है। अतएव विक्रम संवतसे ४७० वर्ष पूर्व वीर-

१–जविओसो, भा० १६ पृष्ठ २९१–२९४.

निर्वाण हुआ मानना ठीक नहीं है। यह समय इसके राजा होनेका मानना ठीक है। मम. जायसवालजी. जैन और हिन्दू पुराणोंकी गणनाके आधारमें उसे ई० पूर्व ५४५में अर्थात् विक्रम संवत्‌से ४८८ वर्ष पूर्व सिद्ध करते हैं।[1] 'हरिवंशपुराण 'में श्री जिनसेनाचार्यने नहपानशकके राज्यकालका अन्तिम समय वीर निर्वाणसे ४८७ वां वर्ष लिखा है[2] और यह लिखा ही जाचुका है कि विक्रमादित्य गौतमीपुत्रने ई० पूर्व ५८में नहपानको परास्त करके उसके राज्यका अन्त करदिया था। अतः जिनसेनाचार्यके मतानुसार भी विक्रम संवतसे ४८७–४८८ वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ प्रगट है। हम अन्यत्र इस ही मतको स्वतन्त्ररूपमें सिद्ध कर चुके हैं। फलतः वीर निर्वाणका शुद्ध रूप ई० पूर्व ५४५ मानना ठीक है।

१–जविओसो० भा० १ पृ० ९९–१०२ व भा० १३ पृ० २४९.

२–"वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते। लोकेऽवंतिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः॥ षष्टिर्वर्षाणि तद्राज्यं ततो विजयभूभुजां। शतं च पंच पंचाशत् वर्षाणि तद्दूदीरितं॥ चत्वारिंशत् पुरूढानां भूमंडलमखंडितं। त्रिंशत्तु पुष्यमित्राणां षष्टिर्वस्वग्निमित्रयोः॥ शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः। चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयं॥ भद्रबाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयं। एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतं॥"

"हरिवंशपुराण" के उक्त श्लोकोंके अनुसार वीरनिर्वाणके समय अवंतिके सिंहासन पर पालक राजाका अभिषेक हुआ था। उस वंशने ६० वर्ष, विजय (नंद) वंशने १५५ वर्ष, पुरूढ वंशने ४० वर्ष, पुष्यमित्रने ३०, वसुमित्र अग्निमित्रने ६०, रासभ (गर्दभिल्ल) वंशने १००, नरवाहनने ४२; भद्रबाण (आन्ध्रभृत्य) ने २४२ और गुप्तवंशने २२१ वर्ष राज्य किया। नरवाहन, जो नहपानका द्योतक है,

ईसवी प्रथम शताब्दिसे किंचित् पूर्वसे जैन संघकी दशा विचित्र हो रही थी। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें जैनसंघमें मतभेद उपस्थित होगया था। और नये दलकी क्षीणधारा बल संचय करती हुई पृथक रूपसे चल रही थी। स्थूलभद्रके बाद इस नई धारामें आर्यमहागिरि, आर्यसुहस्तिसूरि, सुस्थितसूरि, इंद्रदिन्नसूरि (कालकाचार्य), प्रियग्रंथसूरि, वृद्धवादिसूरि, दिन्नसूरि, सिंहगिरि, वज्रस्वामी आदि अनेक आचार्य हुये; जिनकी वंशपरम्परा आजतक श्वेतांबर

दिगम्बर और श्वेतांबर संघ-भेद।

कुल ४८८ वर्ष होती हैं। श्वेताम्बरोंके तपागच्छकी पट्टावलीमें भी लगभग यही गणना लिखी गई है; जैसे कि निम्न कोष्टकके रूपमें मम० जायसवालजीने प्रगट की है:—

श्वे० पट्टावली		हरिवंशपुराण	
पालक........वर्ष	६०	पालक........वर्ष	६०
नन्दवंश	१५५	विजयवंश	१५५
मौर्यवंश	१०८	पुरुढ़वंश	४०
पुष्यमित्र	३०	पुष्यमित्र	३०
बलमित्र-भानुमित्र	६०	वसुमित्र-अग्निमित्र	६०
नहवान............	४०	गसभ (गर्दभिल्ल)	१००
गर्दभिल्ल............	१३	नरवाहन	४२
शक...............	४		
(विक्रमके राज्याभिषेक होनेतक १८ की वर्ष)			
जोड़	४८८	जोड़	४८७

सम्प्रदायमें चली आरही है।[1] इनमेंसे आर्यमहागिरिने नई धाराको पुनः प्राचीन मार्गपर लेआनेके प्रयत्न किये थे। वह जिनकल्पी (नग्न) साधु थे और उन्होंने इस बातको स्वीकार किया था कि स्थूलभद्र द्वारा अनेक बातें धर्मके विरुद्ध प्रचलित होगई हैं। किंतु वह अपने सदप्रयासमें असफल रहे।[2] भला वह नया संघ कैसे इन साधुमहात्माकी बात मानसक्ता था, जिसने श्रुतकेवली भद्रबाहुको संघ बाह्यसा करदिया था। उपरोक्त गणनामें सर्व अंतिम वज्रस्वामीका समय सन् ७१ ई० है। इनके समयमें रोहगुप्त नामक जैन साधुने एक मतभेद उपस्थित किया था। इनके शिष्य कनाद द्वारा वैशेशिक दर्शनकी उत्पत्ति हुई थी।[3]

वज्रस्वामीके उत्तराधिकारी वज्रसेन हुये और इनके समयमें दिगम्बर और श्वेतांबर भेद बिल्कुल स्पष्ट होगया था।[4] मौर्यकालकी क्षीणधारा इतनी वेगवती होगई थी कि वह पुरातन धाराके सम्मुख आडटी! श्वेतांबर कहते हैं कि रथवीरपुरके राजाका एक नौकर मुनि होगया था। इसका नाम शिवभूति हुआ। राजाने इन्हें कीमती कम्बल भेंट किया; जिसे उनने स्वीकार कर लिया। किंतु उनके

१–जैसा सं०, भा० १, वीर वंशावलि, पृ० ८–११

२–हॉजै० पृ० ७२ Mahagiri's rule is also noteworthy for his endeavours to bring the community back to their primitive faith and practice. He was a real ascetic and recognised that under Shulbhadra's sway many abuses had crept in to the order."–Heart of jainism. P. 72.

३–हॉजै० पृ० ७८ व जैसा सं० भा० १ वीर वंशा० पृ० १३।

४–हॉजै०, पृ० ७९।

गुरुने शिवभूतिका कम्बलमे विशेष मोह देखा तो उसे फाडकर फेंक दिया। शिवभूति नाराज होगया और नग्न रहने लगा। इसके दो शिष्य कौन्डिन्य और कट्टवीर हुये। इसकी बहिन उत्तराने भी साधु होना चाहा, परन्तु स्त्रीके लिये नग्न रहना असंभव जानकर शिवभूतिने उसे साधु दीक्षा नहीं दी और घोषणा करदी कि कोई जीव स्त्री भवसे मोक्ष नहीं जासकता! श्वेताबरोंकी इस कथामें कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं है; क्योंकि बौद्ध ग्रन्थोंके आधारसे सिद्ध किया जा चुका है कि जैन मुनियोंका प्राचीन भेष नग्न (दिगंबर) था और यह बात स्वयं श्वेतांबरोंके आर्य महागिरि विषयक उपरोक्त कथनसे भी स्पष्ट है। अतएव इस कथामें केवल इतनी बात तथ्य-पूर्ण है कि जैन संघमें दिगम्बर और श्वेतांबर भेद इस समय पूर्ण प्रगट होगया था।

दि० जैन संघ व उसके प्रभेद।

दिगंबर संप्रदायकी मान्यताके अनुसार हम देख चुके हैं कि सम्राट् खारवेलके पश्चात् नक्षत्र आदि आचार्य ग्यारह अंगके धारी हुये थे। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्गके धारक हुए। शेष कुछ आचार्य ग्यारह अंग चौदह पूर्वके एक अंशके ज्ञाता थे और ये सब ११८ वर्षमें हुए थे।[1] इस प्रकार भगवान महावीरजीके निर्वाण उपरांत ६८३ वर्षमें द्वादशांग वाणीका ज्ञान करीब २ बिलकुल लुप्त होगया; अर्थात् सन् १३८ में अंग पूर्वोका ज्ञान आंशिकरूपमें शेष रहा था। इस समयसे किंचित् पहले श्री धरसेनाचार्य हुये थे;

1—तिल्लोयपण्णत्ति, गा० ८०-८२, जहि० भा० १३ पृ० ५३२।

जिनके निकटमें नहपान राजाने जैन मुनि होकर षट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना करके उसे ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन अंकलेश्वर (भड़ौच) में लिपिबद्ध किया था। इसी कारण यह पवित्र दिन "श्रुतावतार" के नामसे प्रसिद्ध है। श्रीधरसेनाचार्य गिरनारकी चंद्र-गुफामें विराजमान थे। वहींपर नहपान राजर्षि (भूतबलि मुनि) और सुबुद्धि श्रेष्ठी (पुष्पदन्त मुनि) ने उनसे शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया था। ये दोनों ऋषि उस समय वेणातटकपुरके जैन संघमें निवास ही करते थे। गिरनारसे ये दोनों ऋषि कुरीश्वर देशमें पहुंचे थे और वहांपर इन्होंने चातुर्मास किया था। पश्चात् दक्षिण भारतकी ओर इनका विहार हुआ था। पुष्पदन्त मुनि अपने भानजे जिन पालितको मुनि बनाकर दक्षिणके वनवास देशको चले गये थे और भूतबलि मुनि दक्षिण मथुराको प्रस्थान कर गये थे। इसी जिन पालितके निमित्तसे षट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना हुई थी।[1]

श्री इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार कथाके अनुसार इस घटनाके पहले जैनसंघ नन्दि, देव, सेन, वीर (सिंह) और भद्र नामक संघोंमें विभक्त होगया था। ये विभाग श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा किये गये थे। इनमें कोई सिद्धांत भेद नहीं है।[2] किन्तु श्रवणबेलगुलके शिलालेख नं० १०८ से प्रगट है कि अकलंकस्वामीके स्वर्गवासके पश्चात् संघ देशभेदसे 'सेन', 'नंदि', 'देव' और 'सिंह' इन चार भेदोंमें विभाजित हुआ था। श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार प्रगट

१-श्रुतावतार कथा, पृ० १६-२०

२-जैशिसं० भूमिका, पृ० १४९

करते हैं कि 'अकलंकसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके संघोंका कोई उल्लेख भी अभीतक देखनेमें नहीं आया, जिससे इस (शि० नं० १०८ के) कथनके सत्य होनेकी बहुत कुछ सम्भावना पाई जाती है।[1]

संभव है मुख्तार सा०का यह अनुमान ठीक हो; किंतु कुशानकालके कौशाम्बीवाले लेखमें एक आचार्यका नाम शिवनंदि है और यह 'नंदि' विशेषण युक्त है।[2] श्वेताम्बर संप्रदायमें भी इसी समयके लगभग अर्थात् वीर निर्वाणाब्दसे ५८२ वर्ष बाद (१) नागिन्द्र, (२) चंद्र, (३) निर्वृत्ति और (४) विद्याधर नामक चार शाखायें प्रगट हुई थीं; जिनसे ही उपरान्त ८४ गच्छ निकले थे।[3] अतएव अर्हद्बलि आचार्यके समयमें ही दिगम्बर जैन संघ चार भागोंमें विभक्त हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं! अर्हद्बलिको श्री गुप्तिगुप्ति और विशाखाचार्य भी कहते हैं—श्री अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, ये सब प्रायः एक ही समयके विद्वान प्रतीत होते हैं।[4]

बलात्कारगणकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ ज्ञात नहीं है। डॉ० हॉर्णले अनुमान करते हैं कि अर्हद्बलिके नाम अपेक्षा ही इस गणकी उत्पत्ति हुई है।[5] नंदिगण, देशीगण और बलात्कारगण परस्पर अभिन्न हैं।[6] गणभेद जैन संघमें भगवान महावीरजीके समयसे

१–रश्रा०, जीवनी पृ० १८१। २–संप्राजैस्मा० पृ० २९। ३–जैसा सं०, भा० १, वीर वंशावलि, पृ० १५। ४–रश्रा०, जीवनी, पृ० १८७। ५–इंऐ०, भा० २०, पृ० ३४२। ६–जैशि० सं०, भूमिका पृ० १४६।

विद्यमान था । उपरान्त इस गणके अनेक भेद देश अथवा आचार्य-परम्पराको लक्ष्य करके होगये हैं । उदाहरणतः 'देशीगण'को ले लीजिये । 'बाहुबलिचरित्र' में इस गणके आचार्योंकी प्रसिद्धि देश देशान्तरों (देशदेशनिकरे) में होनेके कारण इसका नाम देशीगण पड़ा बतलाया है; किंतु मि० गोविन्दपै इस व्याख्याको स्वीकार नहीं करते हैं । वह कहते हैं कि दक्षिण भारतके पश्चिमीयघाट, बालाघाट, कर्णाटक और गोदावरी नदीका मध्यवर्ती प्रदेश 'देश' नामसे प्रसिद्ध है और वहांके ब्राह्मण आज भी 'देशस्थ ब्राह्मण' कहलाते हैं ।[३] अतः नंदिसंघके आचार्योंका केंद्र इस देश नामक प्रदेशमें रहनेके कारण 'देशीयगण' के नामसे विख्यात हुआ उचित जंचता है । 'पुन्नाट गण' पुन्नाट देशकी अपेक्षा प्रसिद्ध हुआ मिलता ही है । इस प्रकार प्राचीन आचार्य परम्परा आजतक दि० जैनोंमें भी चली आरही है । जब सन ८०-८१ ई० में जैन संघ दिगंबर और श्वेतांबर इन दो संप्रदायोंमें विभक्त होगया; तब दि० सम्प्रदाय 'मूलसंघ' (Real Sangha) के नामसे प्रसिद्ध हुआ; क्योंकि उसकी मान्यतायें प्राचीन जैनधर्मके अनुसार थीं । किंतु इस नामकरणकी तिथि बतलाना कठिन है ।

अब दिगम्बर जैन दृष्टिसे भी संघ भेदपर एक नजर डालिये।

१-बौद्धोंके 'दीर्घनिकाय' (१४८-४९) में भगवान महावीरको गणाचार्य लिखा है। गणधरोंके अस्तित्वसे गणका होना स्वतः सिद्ध है।

२-द्रव्य संग्रह (S. B. J., Vol. I.) भूमिका पृ० ३० ।

३-'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष', भा० १९-'देश' लेख देखो ।

दि० मतानुसार श्वे० संप्रदायकी उत्पत्ति। श्री देवसेनाचार्यजीके "दर्शनसार" नामक ग्रन्थके अनुसार विक्रम संवत १३६ में श्वेतांबर संप्रदायकी उत्पत्ति हुई प्रमाणित है।[1] सोरठ देशकी वलभी नगरीमें यह संप्रदाय उत्पन्न हुआ था। किन्तु भट्टारक रत्ननंदिके 'भद्रबाहु चरित्र' एवं श्रवणबेलगोलके शिलालेखों तथा श्वेतांबरोंकी मान्यताओंसे प्रगट है, जैसे कि हम देख चुके हैं कि जैनसंघमें भद्रबाहुजी श्रुतकेवलीके समय ही भेद पड़ गये थे। बौद्ध ग्रंथोंसे भी जैनसंघका भगवान् महावीरके उपरांत विभक्त होना सिद्ध[2] है। ये बौद्ध ग्रंथ सम्राट् अशोकके समय संशोधित और निर्णित हुये थे। अतएव सम्राट् चंद्रगुप्तके समयमें जैन संघमें भेद पड़ा देखकर उन्होंने उक्त प्रकार उल्लेख किया है। इस दशामें देवसेनाचार्यका सं० १३६ (सन् ८०-८१) में श्वेतांबरोंकी उत्पत्ति होना बताना कुछ उचित नहीं जंचती; किन्तु उनका यह कथन तथ्यपूर्ण है।

श्वेतांबर भी दिगम्बर संप्रदायकी आरंभ उपस्थितकी जानेवाली गाथाके समान ही एक गाथा द्वारा दिगम्बरोंकी उत्पत्ति लगभग इसी समय प्रगट करते हैं।[3] उसपर भट्टारक रत्ननंदिके 'भद्रबाहु चरित्र'

१-छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स। सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥-दर्शनसारः। २-दीनि० ३ पृ० ११७-११८, मनि० भा० २ पृ० १४३ व भमबु० पृ० २१४। ३-"छव्वास सहस्सेहिं नवुत्तरेहिं सिद्धिं गवस्स वीरस्स। तो बोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुपन्ना ॥" किन्तु श्वेतांबरोंकी यह प्रमाणभूत गाथा दिगम्बर ग्रन्थकी निम्न गाथाका रूपांतर प्रतीत होता है।

से प्रगट है कि भद्रबाहु स्वामीके समय संघ भेद उपस्थित हुआ, तब क्षीण रूपमें प्राचीन निर्ग्रंथ संघमें एक शाखा अलग होगई थी और वह अपने सिद्धांत ग्रन्थ आदि ठीक करनेमें व्यग्र रही थी। वह 'अर्द्धफालक' संप्रदाय थी और इसके साधु खण्ड वस्त्र ग्रहण करते थे। श्वेतांबरोंका पूर्वज यह 'अर्द्धफालक' संप्रदाय था। कतिपय विद्वान 'अर्द्धफालक' संप्रदायका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं; किन्तु मथुराके पुरातत्वसे इस सम्प्रदायका अस्तित्व प्रमाणित होता है। मथुराका प्लेट नं० १७ एक तोरण स्तम्भका चित्र है। इसमें एक जैन साधु सवस्त्र दिखाया गया है।[1] इसी प्रकार एक पद्मासनस्थ जैन मूर्ति सारे शरीरपर वस्त्र पहरे हुए प्लेट नं० ९६के चित्रमें दर्शाई गई है।[2] नं० १७ वाली प्लेटमें दूसरी ओर जो दृश्य अङ्कित है, वह अर्द्धफालक सम्प्रदायके अस्तित्वकी प्रमाणिक साक्षी है। उसके ऊपरके अंशमें एक स्तूप है और उसके दोनों ओर दो दो तीर्थंकर हैं। नीचेके अंशमें एक मुनि हाथकी कलाईपर कपड़ा डाले हुये खड़े हैं। उनका सीधा हाथ कंधेकी ओर उठा हुआ है; जिसमें

क्योंकि स्वयं श्वेतांबराचार्य जिनेश्वरसूरिने दिगम्बरोंके इस गाथाका उल्लेख किया है:-" छव्वास सएहिं न उत्तरेहिं तन्था सिद्धिं गयस्स वीरस्स। कंबलियाणं दिट्ठी वलही पुरिए समुप्पण्णा ॥" जैहि० भा० १३ पृ० ४००।

१-जैस्तू२० पृ० २४। २-जैस्तू२० पृ० ४१। श्वेतांबर शास्त्र अपनी मूर्तियोंमें वस्त्र चिन्ह अंकित करना बतलाते हैं। उनमें मूर्तियोंको वस्त्राच्छादित बनानेका विधान हमारे देखनेमें नहीं आया। मूर्तिको वस्त्रालँकारसेषित करनेकी प्रथा श्वेतांबरोंमें अर्वाचीन है।

पांको है उनका नाम 'कन्ह' लिखा हुआ है। इसपर कुशन मं० ९५ का एक लेख है जिसमें कोटियगण थानियकुल और वैरशाखाके आर्य अरहका उल्लेख है। इन गणादिका पता संभवतः श्वेतांबरोंकी स्थिविरावलीमें लगता है। इस दशामें 'अर्धफालक' संप्रदायको श्वेतांबरोंका पूर्वज मानना अनुचित नहीं है।

इस पटके मुनि अर्धफालक सम्प्रदायके मालूम होते हैं, क्योंकि इनके पास कपड़ेका 'केवल एक टुकड़ा' (खंडवस्त्र) ही है। और यह चित्र है भी उस समयका जब श्वेतांबर और दिगंबर भेद पूर्णतः व्यक्त होनेके सन्निकट था। ऐसे समयमें जैन संघमें एक महा क्रान्तिसी उपस्थित हुई प्रतीत होती है। यही कारण है कि नं० १८ व नं० १७ के पृष्टोंमें सवस्त्रधारी मूर्ति और साधुतक दर्शाये गये हैं। मालूम ऐसा होता है कि मौर्यकालसे ईसवी सनके प्रारम्भिक समयतकके अन्तरालमें वह शाखा जो प्राचीन निर्ग्रंथ (नग्न) संघसे अलग हुई थी, इतनी बलवान होगई थी कि वह अब तीर्थों और मूर्तियोंपर भी अपना अधिकार स्थापित करनेकी चेष्टा करने लगी थी। भगवान कुंदकुंदाचार्य इसी समय हुये थे और उनके वक्तव्योंसे स्पष्ट है कि उनके समयमें अवश्य ही जैन मुनि वस्त्र धारण करने लगे थे, अपने मन्तव्यको पुष्ट करनेवाले ग्रन्थ रचने लगे थे और मूर्ति आदिके लिये झगड़ने लगे थे। आचार्य महाराजने तिलतुषमात्र परिग्रह रहित दिगंबर मुनिको ही चैत्यग्रह बतलाया है। उन्होंने लोगोंका ध्यान व्यवहारकी ओरसे हटानेका प्रयत्न किया था; क्योंकि उसमें निवृत्ति मार्गके उपासक साधु लोग भी बुरी तरह फंस

गये थे। दिगम्बर और श्वेतांबर[2], दोनों संप्रदायोंके ग्रंथोंसे प्रकट है कि इस कालके लगभग तीर्थोंके संबन्धमें दोनों संप्रदायोंमें झगड़ा हुआ था। कुंदकुंदाचार्यने उज्जयंत (गिरिनार) पर सरस्वतीकी पाषाण मूर्तिको वाचाल करके नग्न रहनेवाले निर्ग्रंथ साधुओंके पक्षको सबल बनाया था।[3]

श्वेतांबरोंके पूर्वज (Forerunners) प्राचीन मूर्तियोंकी आकृतियोंको नहीं बदल पाये थे अर्थात् इस समयतक जैन मूर्तियां बिलकुल वस्त्र चिह्न रहित नग्न बनाई जाती थीं; जैसे कि मथुरा और खण्डगिरिकी गुफाओंवाली प्राचीन मूर्तियोंसे प्रमाणित है। प्राचीन मूर्तियोंको भले ही श्वेतांबर बदलनेमें असमर्थ रहे हों; किंतु उन्होंने नवीन मूर्तियोंको वस्त्र चिह्नाङ्कित बनाना प्रारम्भ कर दिया था, इसमें संशय नहीं।[4] जैन संघमें हुई इस क्रांतिका कटु परिणाम यह निकला कि वि० सं० १३६ (सन ८० ई०)में दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायोंकी जड़ खूब पुख्ता जम गई और उनमें आपसी विरोध पड़ गया। भद्रबाहु द्वितीय संभवतः इस समय दि० सम्प्रदायके अध्यक्ष थे।[5]

उपरोक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि भगवान महावीरजीके निर्वाण कालसे लेकर ईसवी सन्‌के प्रारंभिक काल

तत्कालीन जैनधर्म। तकके समयमें जैनधर्ममें बड़ा अंतर पड़ गया था। द्वादशांगवाणी बिलकुल लुप्त होगई थी। उसके स्थानपर नये २ ग्रन्थ आचार्यों द्वारा रचे जाने लगे थे। उधर

१–विशेषके लिये देखो 'वीर' वर्ष ४ पृ० ३०४–३०९।
२–'प्रवचन परीक्षा' प्रकरण १–जैहि० भा० १३ पृ० २८९।
३–इंऐ०, भा० २० पृ० ३४२। ४–जैहि०, भा० १३ पृ० २९०।
५–इंऐ०, भा० २० पृ० ३४२–३४३।

श्वेतांबर संप्रदायमें अपने मनोनीत ढंगपर द्वादशांगवाणीका पुनरुद्धार किया गया था। जिन प्रतिमाओंका रूप भी इस संप्रदायने बदल दिया था। श्वेतांबर साधु वस्त्र धारण करने लगे थे। इन मान्यताओंको लक्ष्य करके श्वेतांबर संप्रदायमें वस्त्र सहित अवस्थासे भी मोक्ष प्राप्त कर लेना विधेय ठहराया गया था। स्त्री मुक्ति, केवली कवलाहार आदि बातें भी स्वीकार की गई थीं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें प्राचीन मान्यताओंको ही स्थान मिला रहा और इस संप्रदायके अनुयायियोंमें तबतक पुरातन रीतिरिवाजोंकी मान्यता रही; यद्यपि दिगम्बर संघ भी चार भागोंमें विभक्त होगया था और ग्रहस्थोंमें भी अनेक उपजातियां उत्पन्न होगई थीं।

अब भी दिगम्बर जैन धर्मका द्वार प्रत्येक प्राणीके लिये खुला हुआ था। जिस प्रकार भगवान महावीरजीके समयमें विदेशियों और चोर, डाकुओंके समान पतित लोगोंको उनके धर्ममें शरण मिली थी; वैसे ही इसकाल अर्थात ई० सनके प्रारम्भमें भी शकोंके सदृश विदेशी लोगों और वेश्याओं जैसे पतित व्यक्तियोंको जैन रीत्यानुसार धर्माराधन करनेका अवसर मिला था। नहपान राजा विदेशी शक जातिका था, पर तो भी जैनमुनि होकर उन्होंने हमें द्वादशाङ्ग वाणीका आंशिक ज्ञान कराकर बड़ा उपकार किया है। देवसंघके जैनमुनियोंने देवदत्ता नामक वेश्याके घरमें चातुर्मास व्यतित करके जैन धर्मके पतित पावन रूपको स्पष्ट कर दिया था। इतना ही क्यों?

१–इंऐ, भा० २० पृ० ३४६ 'यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्षायोगो स्थापितवान् सहदेवसंघश्चकार ॥४॥'

मथुराके पुरातत्वसे अनेक लोगों, रंगरेजों और गणिकाओं द्वारा अर्हन भगवानकी पूजाके लिये जिन मंदिर आदि बननेका पता चलता है ।[1]

ये सब बातें उस समय भी जैन धर्मके व्यापक रूपकी द्योतक हैं । साथ ही श्रावकोंमें परस्पर प्रेम व्यवहारका अभाव नहीं था । उनमें परस्पर सामाजिक व्यवहार होता था । एक वणिकका विवाह क्षत्रियाणी साधर्मिके साथ होनेका उदाहरण मिलता है ।[2] उपजातियोंमें परस्पर विवाहसम्बन्ध तो बारहवीं—तेरहवीं शताब्दि तक होते रहे थे; जैसे कि आबूपरके वस्तुपालवाले शिलालेखसे प्रगट है ।[3] उपजातियोंका जन्म यद्यपि इस समय होगया था; किंतु उनको विशेष महत्व प्राप्त नहीं था । शिलालेखों और शास्त्रोंमें उनका उल्लेख 'वणिक' या 'वैश्य' नामसे मिलता है । उनमें परस्पर कुछ भी भेदभाव न था । जिस प्रकार आज एक ही उपजातिके विविध गोत्र ग्रामों अपेक्षा, जैसे काशलीवाल, रपरिया आदि स्वतंत्र रूपमें उल्लिखित होते हुए भी उपजातिसे कुछ भी विरोध नहीं रखते; इसी तरह मालूम होता है, उस समय एक बड़ी वैश्य जातिके अन्तर्गत यह उपजातियां ग्रामादि अपेक्षा अपना प्रथक् नामकरण रखते हुए भी उससे विलग नहीं थीं ।

१–'वीर' वर्ष ४ पृ० ३०२–Mathera jain image inscription of sam: 25 records the gift of Vasu, the wife of a dyer...... इऐं०, भा० ३३ पृ० ३७–३८

२–वीर, वर्ष ४ पृ० ३०१ ३–प्राजैलेसं० पृ० ८७

जिस समय इस भरतक्षेत्रमें कर्मभूमिका प्रादुर्भाव हुआ था,

उपजातियोंकी उत्पत्ति।

तब यहांके मनुष्योंमें किसी भी प्रकारकी कोई जाति अथवा वर्णव्यवस्था नहीं थी। जनता कर्मभूमिके कर्तव्योंसे अपरिचित थी और वह भयभीत हुई तत्कालीन राजा ऋषभदेवके सन्निकट सभ्यताकी प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रही थी इसी समय ऋषभदेवने जनताकी समुचित रक्षा और उन्नतिके भावसे वर्ण अथवा जाति व्यवस्थाको जन्म दिया था। उन्होंने उन पुरुषोंको 'क्षत्रिय' संज्ञासे विभूषित किया, जिनको जनताकी रक्षाके योग्य समझकर यह भार सौंपा गया। इसी प्रकार मनुष्योंकी योग्यताके अनुसार वैश्य और शूद्र नियत हुए। तथापि भरत महाराजने ऋषभदेवजी द्वारा धर्मकी प्रवर्तना होनेपर उपरोक्त तीनों वर्णोंमेंके व्रती पुरुषोंमेंसे ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की थी; जैसे कि प्रथम भागमें लिखा जाचुका है।[१] मूलमें यहांपर इस प्रकार चातुर्वर्णमय व्यवस्था थी। इन चारवर्णोंके साथ विविध कुलोंकी स्थापना भी होगई थी। यह अधिकांश कुटुम्बोंके महापुरुषों अथवा ग्रामोंकी अपेक्षा हुई थी; जैसे राजा अर्ककीर्तिकी अपेक्षा अर्क अथवा सूर्यवंश और यदुकी अपेक्षा यदुवंश विख्यात हुए थे। भगवान महावीरजीके समय तक यह चातुर्वर्ण व्यवस्था समुचित रीतिसे चल रही थी; किंतु उसके उपरांत ये वर्ण अनेक उपजातियोंमें विभक्त होचले थे। जैनाचार्य इंद्रनंदिजी पंचमकालके प्रारंभमें ग्रामादि अपेक्षा इन उपजातियोंका जन्म हुआ लिखते हैं।[२] इतिहासकी स्वाधीन साक्षीसे भी प्रमाणित है

१-संजै इ० भा० १ पृ० ४२ व आदि पुराण, पर्व ३९। २-नीतिसार

कि उपजातियोंकी जड़ बौद्धकालमें पड़ गई थी[1] और वह गुप्तकालमें आकर पल्लवित हुई थी ![2]

अग्रवाल जातिकी उत्पत्ति लगभग इसी समय हुई थी। कहते हैं कि अयोध्याके राजा मानधाताकी ५२ वीं पीढ़ीमें वीर निर्वाणसे ४०८१ वर्ष पूर्व श्री नेमिनाथजीके तीर्थकालमें अग्रसेन नामक

अग्रवाल वैश्य जाति।

राजा थे। उनके पिता महावीर दिगम्बर मुनि होगये थे। उनके मुनि होनेपर राजकुमार अग्रसेनको वीर नि० पूर्व ४०४६ में राजगद्दी मिली थी। सन् ४५२१ वी० नि० पूर्वमें उन्होंने मिश्र देशके जैनधर्मी राजा 'कुरुषविन्दु' पर आक्रमण किया था और इस युद्धमें यह वीर गतिको प्राप्त हुये थे। राजा अग्रसेनने वेदानुयायी पातञ्जलि नामक ऋषिके उपदेशसे अपने पितृधर्म-जैनधर्मका परित्याग कर दिया था। यदि यह पातञ्जलि ऋषि 'पातञ्जलिभाष्य' के कर्ता हैं, तो राजा अग्रसेनका समय भगवान नेमिनाथजीके तीर्थमें होना अशक्य है; परन्तु ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके आधारपर उक्त दोनों पातञ्जलि एक माने जावें ! जो हो, इन्हीं राजा अग्रसेनके १८ पुत्र हुये थे। जिस समय इन १८ पुत्रोंकी संतान राजच्युत होगई, तो वह राजा अग्रसेनके नाम अपेक्षा 'अग्रवाल' नामसे प्रसिद्ध हुई। प्राचीन जैन लेखमें इसका उल्लेख 'अग्रोत' वंशके रूपमें हुआ मिलता है। राजा अग्रसेनकी संतति में कई पीढ़ियोंतक वैदिक धर्मकी मान्यता रही थी। किंतु उपरांत अग्रोतपति राजा दिवाकरदेवके राज्यमें वीर नि० सं० ५१५-५६५के लगभग (वि० सं० २८-७७

१-बुई०, पृ० ५५-५९ २-भाइ०, ९३-९९

के अन्तर्गत) जैनाचार्य श्रीलोहार्यजीके उपदेशसे जैनधर्म फिर इसवंशमें स्थान पागया; जिसे इस जातिके बहुतसे लोग आज भी पालन कर रहे हैं। इस प्रकार अपने क्षत्री धर्मसे च्युत होकर अग्रवाल जाति व्यापार–प्रधान होजानेके कारण वैश्य वर्गमें परिगणित होगई है![1]

खंडेलवालकी उत्पत्ति!

खंडेलवाल जातिकी उत्पत्तिका समय भी करीबर यही है। यह जनश्रुति है कि वि० सं० १ में किसी जिनसेन नामक जैनाचार्यने राजपूतानेके खण्डेला नामक ग्रामके राजाको प्रभावित करके जैनधर्ममें दीक्षित किया था। राजाके साथ उसके ८२ ग्रामोंके सरदार भी अपनी प्रजा समेत जैनी होगये थे। इन ८२ ग्रामोंके अतिरिक्त दो ग्रामोंके सुनार (सोनी) भी जैनी हुये थे। जैनाचार्यने इनका उल्लेख 'खंडेलग्राम' की अपेक्षा 'खंडेलवालान्वय' के नामसे किया था। इसी कारण इनकी प्रसिद्धि खण्डेलवाल नामसे हुई है। राजभ्रष्ट होकर व्यापार करने लगनेके कारण यह जाति भी वैश्योंमें गिनी जाने लगी है। उपरान्त ८४ ग्रामोंकी अपेक्षा इस जातिमें ८४ गोत्र भी हैं।[2]

ओसवाल जातिका प्रादुर्भाव।

ओसवाल जातिका जन्म भी इसी ढंगपर हुआ कहा जाता है। ईस्वी दूसरी शताब्दिमें किसी जैनाचार्यने ओसिया नामक नगरके निवासी राजपूत लोगोंको जैनधर्मानुयायी बनाया था। इस

1–अग्रवाल इतिहास व बृ॰जैश०, भा० १ पृ० ७१–७२।

2–खण्डेलवाल जैन इतिहास व जैहि०, भा० १ पृ० ३३३ और हिवि० भा० ९ पृ० ७१८।

ओसिया नगरको लक्ष्य करके इनका नामकरण 'ओसवाल' होगया है[1]। इनमें अधिकांश लोग अब व्यापार करने लगे हैं। इस कारण यह लोग भी वैश्य माने जाते हैं। अंग्रेजोंके भारतमें अधिकार जमानेके समय तक इनमें बड़े २ योद्धा हो चुके हैं। अब भी कई देशी रियासतोंमें ओसवाल लोग दीवान या मंत्रिपदपर नियुक्त हैं।

लम्बकञ्चुक जातिका जन्म।

लमेचू (लम्बकञ्चुक) जातिका निकास भी लगभग इसी समय हुआ था। पन्द्रहवीं शताब्दिके शिलालेखों एवं[2] पट्टावली आदिमें इस जातिका मूलमें यदुवंशी होना प्रमाणित है। कहा जाता है कि यदुवंशमें एक राजा लोमकरण (या लम्बकर्ण) नामक हुये थे। और वह लम्बकाञ्चन नामक देशमें जाकर राज्य करने लगे थे। उन्हींकी संतान 'लम्बकाञ्चन' नामक देशकी अपेक्षा लम्बकञ्चुक नामसे प्रख्यात हुई थी। इसपरसे श्री० पण्डित झम्मनलालजी तर्कतीर्थ आदि लंबेचू विद्वान् अपनी जातिका निकास भगवान् नेमिनाथजीके तीर्थमें हुआ अनुमान करते हैं[3] किंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् नेमिनाथजीके मोक्ष चले जानेके बाद द्वारिका सब ही यदुवंशियों समेत जलकर भस्म होगई थी। केवल कृष्ण, बलराम और जरतकुमार बचरहे थे। कृष्ण और बलरामकी भी जीवनलीलायें शीघ्र समाप्त होगई थीं। यदुवंशका नाम लेवा मात्र जरत्कुमार रह गया। इस जरत्कुमारकी पट्टरानी कलि-

१–मप्राजैस्मा०, पृ० १९२। २–प्राजैलेसं०, भा० १ पृ० ८३–८४। ३–लंबेचू जातिका परिचय, नामक पुस्तक देखो।

राजकी पुत्री थी। जरत्कुमार अपनी ससुरालमें जाकर रहने लगा और वहांपर उसका पुत्र वसुध्वज राज्याधिकारी हुआ था। वसुकी छठी पीढ़ीमें जितशत्रु नामक कलिङ्गका राजा भगवान महावीरजीका समकालीन था और जैन मुनि होगया था; यह पहले लिखा जाचुका है। उसके बाद कलिङ्ग राज्यका क्या हुआ? यह कुछ पता नहीं चलता। शायद किसी अन्य राजाका वहांपर अधिकार होगया हो। जैन सम्राट् खारवेलके शिलालेखके अनुसार कौशल देशके राजाका कलिङ्गमें आधिपत्य जमना प्रगट है[२]। किंतु बीचमें मगधके नन्द-राज भी वहां कुछ वर्षोंतक राज्याधिकारी रहे थे।

अतः यह निस्सन्देह ठीक प्रतीत होता है कि कलिङ्गमें यदु-वंशी जरत्कुमारके वंशज राजभ्रष्ट होगये थे। मालूम होता है कि वह कलिङ्ग छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये थे। अत: लोमकरण राजा इसी समय हुये होंगे। जरत्कुमारकी संतानमें उनका होना संभावित है; क्योंकि भगवान महावीरजीके समयतक यदुवंशके जो राजा हुए उनमें इस नामका कोई राजा नहीं है[३]। इस अवस्थामें नंदराजद्वारा पराजित होकर कलिङ्गसे निकलनेपर जो राजा इस वंशमें हुए, उनमें ही लोमकरण राजाका होना सुसंगत है। इस अपेक्षा वह ईसवी पूर्व पहली व दूसरी शताब्दिमें हुए अनुमान किये जासकते हैं। उन्हें भगवान नेमिनाथजीके समयमें हुआ मानना ठीक नहीं है। लमेचुओंकी पुरानी पट्टावलियोंमें राजा लोमकरण अथवा लम्बकर्णको

१-हरि० पृ० ५८७-६०२ और ६२२। २-जविओसो० भा० ३ पृ० ४३५-४३८। ३-हरि० पृ० ६२३।

अपना देश छोड़कर लम्बकांचन देशमें राज्य स्थापित करते लिखा है।[1] यह घटना भी कलिङ्गसे यदुवंशियों (हरिवंशी) के अन्यत्र जानेके उल्लेखसे ठीक बैठती है। किन्तु कोई महाशय लम्बकांचन देशको द्वारिकाका निकटवर्ती अथवा उसका अपर नाम ही समझते हैं[2]। पर यह नाम द्वारिकाका अथवा उसके आसपासवाले किसी देशका नहीं मिलता। इस कारण लम्बकांचन देशको गुजरातमें मान लेना कठिन है। 'राजावली कथा' में भी समन्तभद्र स्वामीके भ्रमण सम्बन्धी वर्णनमें एक देश 'लाम्बुश' भी उल्लिखित हुआ है और यह मणुवकहल्ली नामक देश अथवा नगरके बाद गिनाया गया है।[3] इसका सादृश्य लम्बकांचनसे है। संभव है कि लाम्बुशका अपर नाम लम्बकांचन हो।

मणुवकहल्ली देश दक्षिण भारतमें स्थित प्रतीत होता है। अतएव लांबुश देश उसके समीप ही कहीं होना उपयुक्त है। यदि लम्बकाञ्चनको एक संयुक्त नाम माना जाय, तो प्रगट है कि 'लम्ब' तो 'लाम्बुश' का द्योतक है और 'काञ्चन' जैनोंके प्राचीन केन्द्र कांचीपुरका परिचायक होसक्ता है। इस दशामें लम्बकाञ्चन देश दक्षिणमें ठहरता है और उसका वहांपर होना इसलिये संभव है कि कलिङ्गसे आया हुआ राजकुल दक्षिणके निकटवर्नी प्रदेशमें कहीं ठहरेगा, वह एकदम गुजरात नहीं पहुंच जायगा। दक्षिण भारतके तामिल देशमें ईसवी प्रारंभिक शताब्दियोंमें लम्बकर्ण नामक क्षत्रिय प्रसिद्ध थे, यह बात इतिहाससे सिद्ध है। उधर पट्टावलीमें

१–लमेचूओंका इतिहास, पृ० १२–१९। २–उत्कर्ष, वर्ष १ सं० ६ पृ० १४१। ३–रआ०, जीवनी पृ० ३२।

यह कहा गया है कि सं० १४९ में राजा लोमकरण या लम्ब-कर्णकी संतानको लम्बकाञ्चन देश छोड़ना पड़ा था और वह राज्यसे हाथ धोकर राजपूतानेकी ओर चले आये थे। आठवीं शताब्दिके कवि धनपालने 'भविष्यदत्त चरित्र' में लम्बकर्ण क्षत्रियोंको उज्जैनके आसपास बसा लिखा है। अतः यह संभव है कि दक्षिण भारतके लम्बकर्ण क्षत्रियोंका सम्बन्ध पट्टावलीके राजा लम्बकर्णसे हो। अपना राज गंवाकर इन क्षत्रियोंने वणिक्‌वृत्ति ग्रहण कर ली थी। इसी कारण यदुवंशी लोमकरण या लम्बकर्णकी सन्तान लमेचू आज क्षत्री न होकर वैश्य हैं। इनका जन्म भी ईसवी सन्‌के प्रारम्भमें हुआ प्रगट है।[1]

इसी प्रकार अन्य जातियोंकी उत्पत्तिका पता लगाया जासक्ता है; किंतु यह बात नहीं है कि सब ही जैन जातियां राजभ्रष्ट क्षत्रियोंकी संतान हैं। प्रत्युत जैसवाल, पोरवाल आदि जातियां मूलमें वैश्य वर्णकी हैं। उनका नामकरण जायस व पोर नामक ग्रामोंकी अपेक्षा हुआ है। मागधी व्यापारियोंकी जाति तो पहलेसे प्रख्यात थी। ये बड़े वीर, पराक्रमी, चालाक और नीति निपुण थे। पिता अपेक्षा यह व्यापारी थे और माता इनकी क्षत्री थीं।[2] इस प्रकार उपजातियोंकी उत्पत्तिका इतिहास है। यह सनातन नहीं हैं; बल्कि विशेष कारणोंसे हजार डेढ़ हजार वर्ष पहले इनका जन्म हुआ था। इनके इतिहाससे प्रकट है कि एक वर्णके व्यक्ति किस तरह दूसरे वर्णके होसक्ते हैं!

१–वीर, भा० ७ पृ० ४७०–४७१। २–ऐरि०, भा० ९ पृ० ७९।

(४)

गुप्त साम्राज्य और जैनधर्म।

(सन् ३२०–५०० ई०)*

गुप्त राजवंशका आदि-पुरुष चंद्रगुप्त प्र०।

ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंके अंधकारापन्न इतिहासको पार-कर जब हम कुछ उजालेमें पहुंचते हैं, तो एक नये वंशको भारतमें राज्याधिकारी पाते हैं। यह था गुप्तवंश! गुप्तवंशीय राजाओंके नामोंके अंतमें गुप्तनाम रहता था, इस कारण यह वंश 'गुप्त' नामसे प्रख्यात हुआ था। इस वंशका सर्व प्रथम राजा चंद्रगुप्त नामका था। इतिहासमें यह चन्द्रगुप्त प्रथमके नामसे परिचित है। ईस्वी तीसरी शताब्दिके लगभग पाटलिपुत्रपर जैन धर्ममें ख्याति प्राप्त लिच्छवि वंशका अधिकार था। चंद्रगुप्त प्रथमने इसी लिच्छविवंशकी राजकुमारी कुमार देवीसे विवाह करके पाटलीपुत्रको अपने आधीन किया था। इसी राजासे गुप्तराज्यका नींवारोपण हुआ था। इस राजाने अपना संवत् चलाया था; जिसे कतिपय विद्वान् २६ फरवरी सन् ३२० ई०से आरम्भ होना बताते हैं। संभवतः इसी तिथिको चन्द्रगुप्तका राज्यतिलक हुआ था। उसने

* मम० जायसवालजीने आंध्रवंशके अन्तिम राजाका समय सन् २३१–२३८ ई० प्रगट किया है। (जविओसो० १६–२७९७ और आंध्रोंके पश्चात गुप्त राजाओंका राज्य हुआ शास्त्रोंमें कहा गया है। इस अपेक्षा 'हरिवंशपुराण' में गुप्तोंका राज्यकाल जो २२१ वर्ष लिखा है वह प्रायः ठीक बैठता है।

'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की थी और अपने नामके सोनेके सिक्के चलाये थे। दक्षिण बिहार, अवध, तिर्हुत और उसके निकटवर्ती जिलोंमें उसका राज्य था। चन्द्रगुप्तने कुल दस या पंद्रह वर्ष राज्य किया था।

समुद्रगुप्त।

उसके बाद चन्द्रगुप्तका बेटा समुद्रगुप्त राजा हुआ। यह बड़ा योग्य और यशस्वी शासक था। विद्वान् लोग इसे हिंदू नेपोलियन अनुमान करते हैं। यह विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि भी था। संगीत विद्यासे भी उसे बड़ा प्रेम था। उसने सैकड़ों युद्धोंमें विजय प्राप्त की थी। इसके कारण उसके शरीरमें अनेक घावोंके चिह्न थे। पहले समस्त उत्तरी भारतको वश करके उसने दक्षिण भारतपर अपनी विजय पताका फहराई। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। और महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की थी। इलाहाबादके किलेवाले स्तम्भ लेखसे प्रगट है कि उसे सब राजा अपना सम्राट् मानते थे। विदेशी राज्योंसे भी उसका संबन्ध था। बौद्ध ग्रन्थकार वसुबन्धुसे उसका घनिष्ट संबन्ध था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)

समुद्रगुप्तका उत्तराधिकारी उनका चंद्रगुप्त नामक पुत्र था। यह उनका ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, परन्तु समुद्रगुप्तने उन्हें ही अपना युवराज बनाया था। उसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी और वह सन् ३७५ ई०में गद्दीपर बैठा था। चन्द्रगुप्तने सौराष्ट्, मालवा और काठियावाड़को जीतकर अपने राज्यमें मिलाया और क्षत्रपवंशी शक लोगोंको लड़ाईमें हराया था। उसकी

राजधानी उज्जैन व्यापारका केन्द्र था और उसमें विद्वानोंका अच्छा जमाव था । ज्योतिष विद्याका यहां एक अच्छा विद्यालय था । जिसमें नक्षत्रों और तारोंकी परीक्षा होती थी । प्राचीन कालसे पश्चिमके अगणित बंदरगाहोंके साथ उज्जैनका सम्पर्क था । चंद्रगुप्तके राजकालमें उसकी उन्नति खूब हुई ।

चीनी यात्री फाह्यान । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके शासनकालमें फाह्यान नामक चीनी यात्री भारतमें आया था । चीन देशसे चलकर वह भारतके उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रांतके मुहानेसे भारतमें प्रविष्ट हुआ था । वह छः वर्ष तक भारतमें घूमता रहा था । भारतमें आकर उसने बौद्ध धर्म और पाली एवं संस्कृत भाषाका अध्ययन किया था । बौद्धधर्म संबंधी अनेक ग्रन्थोंको वह चीन लेगया था । सचमुच फाह्यानका धर्म प्रेम अत्यन्त सराहनीय और अनुकरणीय है । इस यात्रामें उसे कुल १५ वर्ष लगे थे । उसने अपने भ्रमण—वृतांतमें तत्कालीन भारतका अच्छा वर्णन लिखा है । उसने भारतके 'मध्य देश' के सम्बन्धमें लिखा है कि प्रजा प्रभूत और सुखी है । व्यवहारको लिखा पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है । वे राजाकी भूमि जोतते हैं और उसका अंश देते हैं, जहां चाहें जांय, जहां चाहें रहें । राजा न प्राण दण्ड देता है न शारीरिक दण्ड देता है । अपराधीको अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यम साहसका अर्थ दण्ड दिया जाता है । वार वार दस्युकर्म करनेपर दक्षिण करच्छेद किया जाता है । राजाके प्रतिहार और सहचर वेतन भोगी होते हैं । सारे देशमें सिवाय चांडालके कोई अधिवासी न जीव हिंसा करता है, न मद्य पीता है और

न लहसुन खाता है। दस्युको चांडाल कहते हैं। वे बाहर रहते हैं और नगरमें जब पैठते हैं तो सूचनाके लिये लकड़ी बजाते चलते हैं कि लोग जान जांय और बचकर चलें! कहीं उनसे छू न जांय! जनपदमें सूअर और मुर्गी नहीं पालते। न जीवित पशु बेचते हैं। न कहीं सूनागार और मद्यकी दूकानें हैं। क्रय विक्रयमें कौड़ियोंका व्यवहार है। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"[1] यह उस समयके रामराज्यका वर्णन है।

पाटलिपुत्र भी उन्नतिपर था। अशोकका महल अभीतक मौजूद था। "लोग धनाढ्य और सुखी थे। दानशील संस्थाओं और अस्पतालोंकी संख्या बहुत थी। पाटलिपुत्रमें एक ऐसा अस्पताल था, जिसमें भोजन और वस्त्र भी मुफ्त दिये जाते थे। राजा प्रजाके कामोंमें बहुत कम हस्तक्षेप करता था। सड़कें अच्छी थीं। डाकुओं और लुटेरोंका डर नहीं था। विद्याका भी खूब प्रचार था। पठन-पाटनका ढङ्ग मौखिक था। और प्रजाको धार्मिक स्वतंत्रता थी।"[2] फाह्यान लिखता है कि "मध्यप्रदेशमें ९६ पाखण्डोंका प्रचार है। सब लोक और परलोक मानते हैं। **उनके साधुसंघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते।** सब नाना रूपसे धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गोंपर धर्मशालायें स्थापित हैं। वहां आये गयेको आवास, खाट, बिस्तर, खाना पीना मिलता है। यती भी वहां आते जाते हैं और वास करते हैं।"[3]

फाह्यानके इस वर्णनसे प्रगट है कि मध्यदेशमें (मथुरासे दक्षिण) उस समय बौद्धधर्मके अतिरिक्त अन्य मतोंका प्रचार भी

१–फाह्यान, पृ० ३१. २–भाइ०, पृ० ९१–९२. ३–फाह्यान, पृ० ४६।

काफी था। इससे वहां अहिंसा धर्मकी प्रधानता और ऐसे साधुसंघ बतलाकर कि जिनके अनुयायी भिक्षापात्र नहीं रखते थे, वह हमें जैनधर्मके बहु प्रचारके दर्शन कराते हैं; क्योंकि जैनमतमें ही बौद्धोंके अतिरिक्त 'संघ' बनानेकी प्रथा है और जैन साधु भिक्षापात्र नहीं रखते। संकाश्य, श्रावस्ती, राजगृह आदि स्थानोंमें वह स्पष्टतः जैनधर्मका प्रभाव प्रगट करता हैं।[1] फाह्यान लिखता है कि संकाश्यके सम्बन्धमें बौद्धों और जैनोंमें विवाद हुआ। भिक्षु (बौद्ध) निग्रहस्थानपर आरहे थे।

इससे प्रगट है कि उस समय जैनोंका वहांपर प्राबल्य अधिक था। संकाश्य सम्भवतः जैनोंका प्राचीन तीर्थ था और बहुत करके वह भगवान विमलनाथजीका तपोस्थान था। उसका अपर नाम 'अघहन' (अघहनिया) इसी बातका द्योतक है। यहांपर आज भी अनेक जैन मूर्तियां मिलती हैं। श्रावस्तीमें भी बौद्धों और जैनोंमें परस्पर विवाद होनेका उल्लेख वह करता है। ब्राह्मणोंसे भी झगड़ा होता था! सारांशतः उस समय संप्रदायोंमें एक दूसरेको नीचा दिखानेकी स्पर्द्धा चल रही थी। उस कालमें हिंदूधर्मका पुनरुत्थान हुआ था। नवीन हिंदू धर्म इसी समय संगठित हुआ और अधिकांश हिंदू पुराणोंकी रचना भी इसी समय हुई थी!

कहते हैं कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णव संप्रदाय युक्त थे।

चंद्रगुप्त और जैनधर्म।

किंतु फाह्यानके उक्त वर्णनसे यहांके राजाका परम अहिंसा धर्मानुयायी होना प्रगट है। और यह स्पष्ट है कि उस समय यहां चंद्रगुप्त

१–फाह्यान, पृ० ३५–३६; व पृ० ४०–४२

विक्रमादित्यका ही राज्य था। अतः संभव है कि चन्द्रगुप्त द्वितीयका प्रेम जैनधर्मके प्रति था; यह तो प्रमाणित ही है कि बौद्धों और जैनोंके साथ उसका बर्ताव अच्छा था। जैन ग्रंथोंमें कथा है कि जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकरने 'अवन्ती' के महाकालके मंदिरमें एक अतिशय दिखाकर विक्रमादित्य राजाको जैन धर्मानुयायी बनाया था। स्व० महामहोपाध्याय डा० शतीशचन्द्रजी विद्याभूषणने विक्रमादित्यके दरबारके नौ कविरत्नोंमें परिगणित क्षपणकको सिद्धसेन ही प्रगट किया है और यह विक्रमादित्य चंद्रगुप्त द्वितीयके अतिरिक्त और कोई नहीं है।[२] विक्रम संवतके प्रचारक विक्रमादित्य इनसे भिन्न ईसाकी प्रथम शताब्दिमें हुये थे। प्रसिद्ध कवि कालिदास भी उन्हींके समयमें हुये थे। मालूम होता है कि वराह मिहिरके समकालीन कालिदास दूसरे थे।[३]

सिद्धसेनका समय भी ईसाकी चौथी शताब्दि प्रगट होता है। अतः यह होसक्ता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्यको भी सिद्धसेन दिवाकरने उनके राज्यके अंतमें जैनी बनालिया हो।[४]

चंद्रगुप्तकी मृत्युके बाद सन् ४१३ ई० में उसका पुत्र कुमार गुप्त राजसिंहासनपर आरूढ़ हुआ था।

गुप्तवंशके अंतिम राजा। उसने अश्वमेध यज्ञ किया था। उसके राज्यमें हूण लोगोंने भारतपर हमला किया था और सन् ४५५ में वह उनके साथ लड़ाईमें मारा गया।

१–भाइ० पृ० ९१। २–वीर, वर्ष १ पृ० ४७१। ३–अलाहाबाद युनीवर्सिटी स्टडीज भा० २ (The date of Kalidas)। ४–वीर वर्ष १ पृ० ३३९ व पृ० ४७१।

उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा स्कंधगुप्त था। स्कंधगुप्तके समयमें भी हूणोंका आक्रमण हुआ था; किन्तु उसने उनको लड़ाईमें हरा दिया था। वह बड़ा वीर योद्धा था। उसका एक युद्ध बुलन्दशहरके जैन धर्मानुयायी पुष्यमित्र वंशीय राजाओंसे हुआ था और उसमें भी उसकी जीत हुई थी। यह पुष्यमित्र उस समय धन और सेनासे युक्त प्रबल राजा थे[1] और कनिष्कके समयसे यह बुलन्दशहरमें आबसे थे।[2] स्कन्धगुप्तके राज्य कालमें गोरखपुर जिलेके पूर्वपटनेसे ९० मील कहौम (ककुभग्राम) ग्राममें एक भव्य जैन मंदिर मानस्तंभ सहित निर्मित हुआ था। स्तंभपर एक लेख गुप्त संवत १४१ (ई० सन् ४६०) का है; जिससे प्रगट है कि साधुओंके संसर्गसे पवित्र, ककुभ ग्राम-रत्न, गुणसागर, सोमिलका पुत्र महाधनी भट्टिसोम था। उनके पुत्र विस्तीर्ण यशवाले रुद्रसोम हुये और उनको भद्र नामक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। यह भद्र ब्राह्मण वर्णका था और यह गुरुओं और यतियोंमें प्रीतिमान था। इसीने आदिनाथसे आदि ले पांच तीर्थङ्करोंकी प्रतिमायें स्थापित कराईं। और स्तंभ बनवाया था।[3] झांसी जिलेके देवगढ़ नामक स्थानमें भी जैनोंका प्राबल्य अधिक था। यह स्थान भी गुप्तसाम्राज्यके अन्तर्गत

१-भाप्रारा०, भा० २ पृ० ३८७-स्कंधगुप्तके भिटारीवाले लेखमें है, (पंक्ति १०)-विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समु-(पंक्ति ११)-दितबलकोषान्पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।

२-संप्राजैस्मा० पृ० १८७-Corps. Ins. Ind. Vol. III.

३-संप्राजैस्मा०, पृ० ४-५।

था। कहते हैं कि देवगढ़में पाराशाह और उनके दो भाई देवपति और खेवपति बड़े प्रभावशाली थे। उनने देवगढ़में कई एक जैन मंदिर बनवाये थे।[१]

गुप्त राज्यकी अवनति व राज्यप्रबन्ध। स्कन्दगुप्तने हूणोंको परास्त कर दिया था, परन्तु वे हताश नहीं हुये। उनके आक्रमण भारतपर बराबर होते रहे। उनके राजा तोरमाणने गुप्त राज्यका पश्चिमीय देश जीत लिया। और सन् ५१० ई० तक राजपूताना, मालवा, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि देश हूणोंके आधीन होगये। इस छिन्न भिन्न होते हुये साम्राज्यकी दशाको सम्भालनेके लिये गुप्तवंशके अंतिम राजा भानुगुप्तने प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता प्राप्त न हुई, और गुप्तवंश नष्ट होगया।[२] इस वंशके सब ही राजा बड़े योग्य और तेजस्वी थे। उन्होंने अपने अपने राज्यका अच्छा प्रबन्ध कियाथा, जिससे प्रजा सुखी थी। उससमयकी आर्थिक स्थिति बड़ी अच्छी थी। तब उत्तर और मध्यभारतमें ६ आनेका मन सवामन तेल बिकता था और एक रुपया एक मनुष्यके तीन महीनेके भोजनके लिये पर्याप्त होता था।[३] विद्वानोंका आदर भी विशेष था और साहित्य व कलाकी उन्नति भी खूब हुई थी।

गुप्तकालमें ब्राह्मण, जैन और बौद्धधर्म मुख्य थे। हैवेल सा० कहते हैं कि ई० तीसरी शताब्दितक प्रायः

१–संप्राजैस्मा०, पृ० ६७। २–भाइ०, पृ० ९३। ३–भाप्रारा० भा० २ पृ० २२६–२२७।

तत्कालीन धर्म व साहित्य! सब ही राजकीय अथवा अन्य दान जैन और बौद्ध संस्थाओंको दिये जाते थे। ब्राह्मण वर्गकी मान्यता तबतक न कुछ थी।[1] किंतु गुप्तकालमें ब्राह्मणोंका भाग्य चमका था। गुप्तराजाओंकी राजधानी ब्राह्मण धर्मका केन्द्र बन गई और नवीन वैदिक धर्मका पुनरुत्थान होगया। इतनेपर भी जनसाधारणमें जैन और बौद्ध धर्मोंकी प्रधानता अक्षुण्ण रही थी। जैन मठोंमें उच्चकोटिकी शिक्षाका प्रबन्ध प्रायः देशभरमें था।[2] इन तीनों धर्मोंके विद्वानोंमें परस्पर स्पर्द्धा भी खूब थी, जैसे कि पहले लिखा जाचुका है। ब्राह्मण वर्गकी मुख्य भाषा संस्कृत थी।[3] किंतु जैनों और बौद्धोंके ग्रन्थ अब भी प्राकृत और पाली भाषाओंमें थे। राज्यका संरक्षण पाकर इस समय संस्कृतका प्रचार और महत्व बढ़ रहा था। बौद्धोंने भी संस्कृतमें ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर दी थी और उनकी देखादेखी जैनोंने भी संस्कृतको प्रधानता दी थी; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस समयके पहले जैनोंमें संस्कृत रचनाओंका अभाव था।

इस समयके ग्रन्थोंमें मुख्य विषय तर्क और न्याय था। विद्वानोंमें परस्पर वाद होते थे। सिद्धसेनदिवाकरके समान चतुर्दश विद्या-

१–हिभारूइं०, पृ० १४७।

२–हिभारूइं०, पृ० १२६। गुप्तकालमें संस्कृत भाषाका अधिक प्रचार हुआ। कवि कालीदास नामक कोई कवि इसी समय हुए थे। अमरकोष, आर्यभट्टका गणित शास्त्र, वराहमिहिरका ज्योतिष ग्रंथ और धन्वंतरिका वैद्यक विज्ञान इसी समयकी रचनायें हैं।

३–जैहि०, भा० १९ पृ० १२६।

पारंगत ब्राह्मण विद्वान् एक ऐसे ही वादमें पराजित होकर जैन होगये थे। उनके उद्गारोंसे पता लगता है कि "उस समय सरल वाद-पद्धति और आकर्षक शांतिवृत्तिका लोगोंपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। निर्ग्रन्थ अकेले दुकेले ही ऐसे स्थलोंपर जापहुंचते थे, और ब्राह्मणादि परवादी विस्तृत-शिष्यसमूह और जनसमुदायके सहित राजसी ठाटबाटके साथ पेश आते थे, तोभी जो यश निर्ग्रन्थोंको मिलता था वह उन प्रतिवादियोंको अप्राप्य था। लोग ब्राह्मणोंके जल्पवितण्डा-परिपूर्ण शुष्क वाद और कर्मकांडके प्रपंचसे ऊब गये थे और शांतिपूर्ण सात्विक मार्गके उत्सुक बन गये थे।"[1] जैन ऋषियोंकी प्रतिभाशाली पवित्र लेखनी इन्हीं गुणोंको परिपुष्ट करनेवाली ग्रंथ रचनामें प्रवर्त हुई थी। जैनाचार्योंमें इस समय प्रायः सब ही आचार्य दक्षिणभारत अथवा मालवा और गुजरातकी ओरके निवासी थे। इनका विशद वर्णन हम तीसरे खंडमें करेंगे। इनमें भी कुन्दकुन्दाचार्य, रविषेणाचार्य, उमास्वाति, यतिवृषभ, वप्पदेव, केशवचंद्र, सिद्धसेन दिवाकर इत्यादि आचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी मूल्यमय रचनाओंसे मानवोंका बड़ा उपकार हुवा था। अध्यात्मवाद, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि विषयोंमें अपूर्व रचनायें हुई थीं। विमलसूरिका 'पउमचरिय' जैनरामायणकी एक बहुप्राचीन और मूल्यमई आवृत्ति है। यह आचार्य नागिलवंशके विजय नामक आचार्यके शिष्य थे। गुरुशिष्य परंपरामें चले आये हुये रामचरित्रको इन्होंने वी. नि. सं०

१-जैहि० भा० १४ पृ० १३६-१३७

५३० में गाथाबद्ध किया था[1]। श्री मल्लिषेणजीका 'नागकुमार चरित' इससमयके इतिहासका द्योतक है।[2] 'भगवती आराधना' शिवार्य महाराजकी रचना है और इसमें जैन मुनियोंके चरित्रका अच्छा विवेचन है। यह आचार्य आर्य जिननन्दिगणि, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दिके समकालीन थे। अनुमानतः यह समन्तभद्राचार्य जीसे सौ दो सौ वर्ष पहले हुये थे।[3]

उमास्वातिजीका 'तत्वार्थसूत्र' जैन दर्शनको गागरमें सागरके समान प्रगट करनेवाला है।[4] सर्वनन्दि आचार्यका भूगोल विषयक ग्रंथ 'लोकविभाग' वि० सं० ४५८ में रचा गया था।[5] इसप्रकार अनेक आचार्योंने जैन दर्शनके अभ्युदय और जनकल्याण की दृष्टिसे अतुल ग्रंथरचनाकी थी। इतना ही क्यों? वह प्राणीमात्रकी हित दृष्टिसे अपने शांतिमय एकान्तवासको भी एकतरह विस्मरण कर चुके थे। वे 'जगतके' कल्याणार्थ और परम पुरुष महावीरके मोक्षमार्गका सत्यत्व स्थापनार्थ, मौनधर्मको त्यागकर जन सहवासमें' आगये और वाद-विवादके युद्धक्षेत्रमें उपस्थित होकर, अपने प्रतिपक्षियोंका मुकाबला करने लगे। उनके इस शुभ प्रयाससे जनताको यथार्थ धर्मका स्वरूप ज्ञात रहा और वह क्रिया-

१-जैहि० भा० ११ पृ० १३३ व कलि० पृ० ३६ भूओ साहु परम्पराए सयलं लोये ठियं पायंड। एत्ताहे विमलेण सुत्तसहियं गाहानिबद्धं कयं ॥१०२॥ पंचवेय वाससया दुसमाए तीस वरीस संजुत्ता। वीर सिद्धमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं॥१०३॥ २-इंहिका०, भा० २ पृ० १८९। ३-जैहि० भा० ११ पृ० ५४८। ४-तत्वार्थसूत्र (S. B. J.) भूमिका। ५-इंहिका० भा० २ पृ० ४५१।

कलापको विशेष महत्वकी दृष्टिसे नहीं देखती रहीं। जैनधर्म भी अभी-तक अपने नैसर्गिक रूपको धारण किये हुये था। पूजा-पाठकी सादगी और वात्सल्यभावकी विशालता उसमें भी अब भी मौजूद थी। समन्तभद्र स्वामी सम्यक्त्व युक्त एक चांडालको देवोंद्वारा वंद-नीय ठहराते हैं।[1] और उनके टीकाकार श्री प्रभाचंद्राचार्य उसे एक राजाकी बराबरीमें बैठने योग्य बतलाते है।[2] मथुराके पुरातत्वसे जिनेन्द्रभगवानकी पूजा-अर्चनाकी सरलता स्पष्ट है। भक्तजन अपने२ घरोंके फल-फूल आदि सामिग्री लेजाते थे। और स्त्री-पुरुष एक-साथ मिलकर पूजा-अर्चा करते थे। जिन प्रतिमायें भी दानकी वस्तुयें बताई गई हैं।[3]

दिगम्बर जैन संघ। जब निर्ग्रन्थ संघ वि० सं० १३६ में दिगंबर और श्वेतां-बर नामक दो संप्रदायोंमें विभक्त होगया, तो दिगंबर संप्रदायका उल्लेख मूल संघके रूपमें होने लगा और वह चार संघों एवं गणादिमें बंटगया, यह लिखा जाचुका है। इस मूल संघकी स्थापना श्री भद्रबाहु द्वितीयके समय हुई थी। भद्रबाहुके उत्तराधिकारी गुप्त-गुप्ति नामक आचार्य थे; जिनके उपर नाम अर्हद्वलि और विशाखा-चार्य थे।[4] मूलसंघमें उपरांत माघनंदि प्रथम, जिनचंद्र प्रथम, कुंद-कुन्दाचार्य, उमास्वामी, लोहाचार्य दूसरे, यशःकीर्ति, यशोनंदि, देव-नंदि प्रथम (पूज्यपाद), जयनंदि, गुणनंदि प्रथम, वज्रनंदि, कुमा-

१-रश्रा० पृ० २७ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्। देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम ॥ २८ ॥ २-रश्रा० पृ० ४९। ३-वीर, वर्ष ४ पृ० ३०४-३११। ४-इंए० मा० २० पृ० ३४६।

रनंदि, लोकचंद्र प्रथम, प्रभाचंद्र प्रथम, नेमिचंद्र प्रथम, भानुनंदि, जयनन्दि (सिंहनन्दि), वसुनन्दि, वीरनन्दि, रत्ननन्दि, इस समयके लगभग हुये थे ।[1] इन आचार्योंका केन्द्रस्थान उज्जैनके निकट भद्दलपुर था । किंतु एक 'गुर्वावलि' में श्री लोहाचार्य दूसरेके उपरांत पूर्वका पट्ट और उत्तरका पट्ट इस तरह दो पट्ट स्थापित हुये बताये गये हैं ।[3] और दक्षिण भारतमें मान्यता है कि इस समय चार पट्ट स्थापित हुये थे; जिनमें दो दक्षिण भारतमें थे, एक कोल्हापुरमें था और एक दिल्लीमें ।[4] इन पट्टावलियोंमें परस्पर और इतिहास विरुद्ध इतना कथन है कि इनकी सब ही बातोंको ज्योंका त्यों स्वीकार करलेना कठिन है ।[5]

जो हो, यह स्पष्ट है कि गुप्त साम्राज्य कालमें जैनधर्मकी उन्नति विशेष थी । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी राजधानी उज्जैन जैन धर्मका केन्द्र अब भी थी । रत्ननंदिके पांचवें पट्टधर महाकीर्ति भद्दलपुरसे उज्जैन आगये थे ।[6] यह सब आचार्य निर्ग्रंथ मुनिवत् रहते थे । गुप्त कालके विद्वानों जैसे अमरसिंह, वराहमिहिर, आदिने भी अपने ग्रंथोंमें जैनोंका उल्लेख किया है । इससे भी उस समय जैनधर्मका उन्नत रूपमें होना प्रगट है । प्राचीन कालमें मथुरा, उज्जैन, गिरिनगर, कांचीपुर, पटना आदि नगर जैनोंके केन्द्रस्थान रहे हैं । गुप्तकालमें भी उनको वही महत्व प्राप्त था ।

१–जैहि० भा० ६ अंक ७–८ पृ० २९ व इंऐ० भा० २० पृ० ३५१ । २–इंऐ० भा० २० पृ० ३५२ । ३–जैहि० भा० ६ अंक ७–८ पृ० २३ । ४–जैग० भा० २२ पृ० ३७ । ५–रश्रा०, जीवनी, पृ० ११४–१९६ । ६–इंऐ० भा० २० पृ० ३५२ ।

बङ्गकलिङ्गमें जैनधर्म।

बंगालमें इस कालमें पहाड़पुरका निर्ग्रंथ संघ प्रसिद्ध था।× उसके अध्यक्ष आचार्य गुहनंदि, संभवतः नंदि संघके थे। बौद्धग्रंथ दाठावंसोसे प्रगट है कि पटनाका तत्कालीन राजा पाण्डु भी जैनभक्त था। कलिङ्गमें जैनधर्म अब भी राष्ट्रधर्म बना हुआ था। वहांका गुहशिव नामक राजा दिगम्बर जैनधर्मका अनुयायी था।+ इस प्रकार जैनधर्म उस समय उन्नत रूपमें था।

गुप्तकालकी ललितकला।

विद्याके साथ ही ललितकलाकी भी उन्नति गुप्तराजाओंके समय विशेष हुई थी। स्थापत्य भास्कर शिल्प और चित्रकारी तो इस समयकी देखने बनती है। संयुक्तप्रांतके झांसी जिलेमें ललितपुरके पास देवगढ़के जैनमंदिर इस समयके भास्कर शिल्पका सर्वोत्कृष्ट नमूना है। किन्तु दुःख है कि जैनोंने इस रम्य और पवित्र स्थानके प्रति उदासीनता ग्रहण कर रक्खी है। सरकारी पुरातत्व विभागके अधिकारमें उन्होंने इसको ले लिया था किंतु बहुत प्रयत्नके बाद वह क्षेत्र पुनः जैनोंके हाथमें आया है। इस समय धातुकी अच्छी२ मूर्तियां बनी मिलती हैं। दिल्लीका लोहस्तम्भ भी इसी समयका बना हुआ अनुमान किया जाता है; जो अपने अद्भुतपनके लिये प्रसिद्ध है। अजन्ताकी गुफाओंका आलेख्य और चित्रकारी सर्वोत्कृष्ट है। ये गुफायें बहुत प्राचीन हैं; परन्तु इनमें सबसे बढ़िया काम इसी समयका बना हुआ है। मथुरा और काशी भी ललितकलाके केन्द्र

×इंहिक्वा० भा० ७ पृ० ४४१।
+दाठावंसो अ० २ व दिगम्बरत्व और दि० मुनि पृ० १२९।

थे। उस समय यहां ललितकलाओंकी शिक्षाका खासा प्रबन्ध था और यहांकी कलाका प्रभाव विदेशोंकी कलापर भी पड़ा था।[1]

उस समयके व्यापारी। गुप्तकालमें भारतीय व्यापारकी भी खूब उन्नति हुई थी। जैन-श्रेष्ठी दूर दूर देशोंमें व्यापार करते थे। पश्चिमीय देशोंमें यह व्यापार खूब बढ़ा था। रोमके जहाज दक्षिण भारतमें आते थे और मसाले, इत्र, हाथीदांत, बढ़िया वस्त्र, पत्थर आदि लेजाते थे। मिस्र देशका अलेकज़न्ड्रिया नगर तब भी इस भारतीय व्यापारका केन्द्र था। वहां भारतीय व्यापारी मौजूद थे।[2] देशमें तब व्यापारके कई मार्ग थे। एक तो मौर्य राजाओंके कालकी सड़क पाटलिपुत्रकी पश्चिमोत्तर सीमातक जाती थी। दूसरी मच्छलीपट्टनसे भड़ौचको जाती थी। भड़ौच प्रसिद्ध बन्दरगाह था। रोमके विद्वान् लिनीका कथन है कि रोमसे प्रतिवर्ष लाखों रुपया भारतको जाता था। जावा आदि पूर्वीय देशोंके साथ भी व्यापार होता था।[3] इसका सम्बन्ध खासकर कलिङ्ग देशसे था।[4]

हूण-राज्य। मध्य-एशियामें एक हूण नामकी जाति रहती थी। इस जातिने भारतपर आक्रमण किया था और उसके सरदार तोरमाणने सन् ५१० के लगभग भारतमें अपना राज्य स्थापित किया था, यह पहले कह चुके हैं। उसके बाद उसका पुत्र मिहिरकुल हूणोंका राजा हुआ। वह बड़ा अत्याचारी शासक था। कहते हैं

१-भाइ० पृ० ९५-९६। २-जमीसो० भा० १८ पृ० ३१०। ३-भाइ० पृ० ९७। ४-इंहिका० भा० १ पृ० ३१९।

कि पहले वह बौद्ध था; किंतु कारणवश रुष्ट होकर उसने बौद्धोंको नष्ट करनेकी आज्ञा देदी थी। बौद्धधर्मके कितने ही स्तूप और विहार उसने तुड़वाडाले और लाखों मनुष्योंके प्राण ले लिये थे। वह कट्टर शैव था और अन्य धर्मोंका तिरस्कार करता था। देशी राजाओंने उसके विरुद्ध एक संघ रचा, जिसके नेता मालवानरेश यशोधर्मन और मगधके राजा नृसिंहबालादित्य थे। सन् ५२८ ई० के लगभग इस संघने उसे कहैरार नामक स्थानपर हरा दिया। और वह काश्मीरकी ओर भाग दिया।[1]

यशोधर्मा। मिहिरकुलके बाद भारतके राजा यशोधर्मन हुए। यशोधर्मन बड़े प्रतिभाशाली राजा और वीर योद्धा थे। मन्दसोरमें मिले हुए लेखसे प्रगट है कि हूणोंपर अंतिम विजय इन्हींने प्राप्त की थी। उसका राज्य बहुत बड़ा था। ब्रह्मपुत्रनदीसे पूर्वी घाटतक और हिमालय पर्वतसे समुद्र तटके राजाओंको उसने अपने आधीन किया था।[2] मि० जायसवाल यशोधर्मनको पुराण वर्णित कल्कि अवतार प्रमाणित करते हैं।[3] जैन ग्रंथोंमें कल्किका नाम चतुर्मुख, उसके पिताका नाम इन्द्र और पुत्रका नाम अजितंजय मिलता है। कल्किने ४२ वर्ष राज्य किया था। अपनी दिग्विजयके उपरांत वह जैन मुनियोंको खूब त्रास देने लगा था। हिंदुओंके कल्किपुराणमें भी यह बात प्रगट है।[4] अन्तमें उसका नाश एक असुर द्वारा हुआ

१—भाइ० पृ० ९८। २—भाप्रारा० २ पृ० ३३२। ३—जैहि० भा० १३ पृ० ५१६-५२२। ४—त्रिलोकप्रज्ञप्ति गा० १०१-१०६; जैहि० भा० १३ पृ० ५३४। ५—जैहि० भा० ५२२।

था और उसका पुत्र अजितंजय राज्याधिकारी हुआ था; जिसने जैन धर्मकी रक्षा की थी। यशोधर्मनकी मृत्यु सन् ५३३ ई० के लगभग हुई अनुमान की जाती है और फिर उसके बाद दो तीनसो वर्ष तक माल्वाके इतिहासका कुछ भी पता नहीं चलता है। हो सकता है कि यशोधर्मनका पुत्र राज्याधिकारी हुआ हो, जैसे कि जैनग्रंथ प्रगट करते हैं। जैनोंका आचार्य-पट्ट इस समय भी उज्जैनमें था।

---

(५)

हर्षवर्धन और चीनीयात्री हुएनत्सांग।

हर्षवर्द्धन।

मिहिरकुलकी पराजयके बाद भारतका राज्य छिन्नभिन्न होगया। छठी शताब्दिमें कोई ऐसा राजा नहीं था जो सारे देशको अपने अधिकारमें करता। इस शताब्दिमें अनेक छोटे २ स्वतंत्र राज्य स्थापित होगये थे। छठी शताब्दिके अन्तिम भागमें थानेश्वरके राजा प्रभाकर वर्द्धनने उत्तरीय भारतमें अपना राज्य स्थापित किया था। सन् ६०४ ई० में उसकी मृत्यु होगई। उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन शशांकनामक राजाके हाथोंसे धोखेमें मारडाला गया था। माल्वा नरेशके बन्दीगृहसे अपनी बहिनको मुक्त करनेके लिये उसने उनसे युद्ध किया था और उसमें विजय प्राप्त की थी। राज्यवर्धनके बाद उसका भाई हर्षवर्धन हुआ था। वह सन् ६०६ में गद्दीपर बैठा था। हर्ष श्रीहर्ष और शिलादित्यके नामसे भी प्रसिद्ध था। वह बड़ा वीर था। उसने बंगाल आसामसे काश्मीर-

तक और नेपालसे नर्मदातक सारे देश अपने आधीन कर लिये थे। परन्तु सन् ६२० ई० में जब वह विजयकी लालसासे दक्षिणकी ओर बढ़ा तो चालुक्य वंशके प्रसिद्ध राजा पुलकेशी द्वितीयने उसे हरा दिया। हर्षने कन्नौजको अपनी राजधानी बनाया था और वह शांतिपूर्वक राज्य करता रहा। उसने एक संवत् भी चलाया था; परन्तु वह अधिक दिनोंतक नहीं टिका।

हर्षका शासन प्रबन्ध बड़ा अच्छा था। हर्ष वर्षाऋतुमें भी सारे देशमें दौरा करता था और बदमाशोंको दण्ड तथा भले आदमियोंको इनाम देता था। उसका फौजदारी कानून कड़ा था। सरकारी दफ्तरोंका प्रबन्ध अच्छा था। शिक्षाका भी खूब प्रचार था[1]। नालन्दका बौद्ध विश्वविद्यालय प्रख्यात था। समाजमें विद्वानों और पण्डितोंका राजाओंमें भी अधिक मान था। सड़कोंपर धर्मशालायें थीं। उनमें दीन-हीन पथिकोंको भोजन और बीमारोंको औषधि भी मिलती थी। किसानोंसे उपजका छठा भाग लिया जाता था। राज्य कर्मचारियोंको उचित वेतन मिलता था। लोग सत्यवादी और सरल हृदय थे। राजा सब धर्मोंका आदर करता था। उसने अपने राज्यमें जीवहिंसा तथा मांस भक्षणकी मनाही करदी थी। जो कोई इस आज्ञाको नहीं मानता था, उसे प्राणदण्ड मिलता था। प्रत्येक पाँचवें वर्ष राजा हर्ष बड़े समारोहसे प्रयाग जाता था और गंगा-यमुनाके संगमपर दान करता था। हर्ष विद्वान भी बड़ा था। वह स्वयं गद्य-पद्यमय रचनायें रचता था; उसके लिखे हुये नागानन्द रत्नावली और प्रियदर्शिका नाटक अभीतक मौजूद हैं। उसके

१-भाइ० पृ० १००-१०३

दरबारमें बाणकवि प्रसिद्ध थे । उनने ' हर्षचरित ' नामक ऐतिहासिक पुस्तक बड़े कामकी लिखी है । उसमें लिखा है कि ' हर्ष राजा जब गहन जङ्गलमें जापहुंचा तो उसने वहां अनेक प्रकारके तपस्वी देखे । उनमें नग्न आर्हत (जैन) साधु भी थे।' सन् ६४७ ई० में हर्षका देहान्त होगया था । उसके साम्राज्यके छिन्न भिन्न होते ही उत्तर भारतमें सर्वत्र अशांति फैलगई थी ।[1]

धार्मिक उदारता । हर्षवर्धनका शासनकाल अपनी सामाजिक उदारताके लिये भी उल्लेखनीय है । इस समय अर्थात् सातवीं शताब्दीमें धार्मिक कट्टरताका जोर नहीं दिखाई पड़ता था । स्वयं सम्राट् हर्षवर्धन सब धर्मोंका आदर करते थे, यद्यपि उनके निकट शिव, सूर्य तथा बुद्धकी मान्यता विशेष थी । हर्षके भाई-बहिन बौद्ध थे और उनके पिता सूर्यकी उपासना करते थे । इस कालसे पहले हुये प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंहके समयमें भी इस उदारताका होना संभव है । स्वयं अमरसिंह बौद्ध थे और उनकी पत्नी जैन थीं। जैन कवि धनंजयकी सहधर्मिणी बौद्ध धर्मका आदर करती थीं ।[2] यह परिस्थिति धार्मिक कट्टरताके अभावकी द्योतक है । इस समय बौद्धधर्मकी अवनति होरही थी । जैनधर्मका उत्तरीय भारतमें पहले जैसा विशेष प्रचार प्रगट नहीं होता । अधिकांश जनता पौराणिक हिंदू धर्मको मानती थी । ब्राह्मणलोग प्रभावशाली थे । पर्देका रिवाज नहीं था । हर्षकी विधवा बहिन राज्यश्री राजसभामें बैठती और वार्तालाप

१-माइ० पृ० १०३-१०४। २-जैनमित्र वर्ष ६ अंक ४ पृ० ११।

करती थी। बालविवाह नहीं होते थे।[१]

हर्षकालीन सामाजिकस्थितिके विषयमें श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार-का कहना है कि "(वैदिक कालीन) भारतके

सामाजिक स्थिति। सामाजिक जीवनकी सबसे मुख्य संस्थामें वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था है। हर्षकालमें इन दोनों संस्थाओंका अस्तित्व सुसंगठित रूपमें विद्यमान था: यद्यपि बौद्धों और जैनियोंके समानतावादके प्रचारके कारण ये दोनों संस्थायें उतने आदर्श और व्यापक रूपमें नहीं रही थीं। हर्षकालमें बौद्धों और जैनियोंकी बहुत बड़ी श्रेणियां विद्यमान थीं। इनके अनुयायियोंकी संख्या बहुत अधिक थी। उत्तर भारतमें बौद्धों और दक्षिणी पश्चिमी भारतमें जैनियोंका काफी जोर था। बहुतसे प्रांतीय राजा भी इनके अनुयायी थे। इनके धार्मिक सिद्धांत और रीति-रिवाजका भी तत्कालीन समाजमें साधुओं, तपस्वियों, भिक्षुओं और यतियोंका एक बड़ा भारी समुदाय था, जो उस समयके समाजमें विशेष महत्व रखता था। बहुतसे साधु शहरों व गांवोंमें घूमकर लोगोंको उपदेश एवं शिक्षा दिया करते थे। यही हाल बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओंका भी था। साधारणतः लोगोंके जीवनको नैतिक एवं धार्मिक बनानेमें इन साधुओं, यतियों और भिक्षुओंका बड़ा भारी भाग था। बौद्धोंके मठों, जैन यतियोंके उपाश्रयों और हिंदुओंके मंदिरोंमें शिक्षणालय होते थे। बौद्ध, जैन और ब्राह्मणधर्ममें पारस्परिक द्वेष नहीं था। बौद्ध और जैनधर्मके प्रचारके कारण लोगोंमें मांस भक्षणकी रुचि अधिक रूपमें नहीं रही थी।

१—भाइ० पृ० १०४

दक्षिण भारतमें जैनधर्मका अधिक प्रचार होनेके कारण, उत्तरी भारतकी अपेक्षा, वहां मांसका रिवाज कम था। स्त्रियोंकी तब राजनैतिक स्थिति भी मानी जाती थी। उन्हें भी जायदाद दी जाती थी। स्त्रियोंका भी सम्पत्तिपर अधिकार होता था। साधारण नागरिक-स्त्री-नागरिक भी अपनी इच्छानुसार धर्मपरिवर्तनमें स्वतंत्र था। साधारण जनताका प्रायः प्रत्येक कार्य ग्रामीण पंचायतों द्वारा होता था। सरकारी न्यायालय भी स्थान २ पर होते थे। शासन विधान परिष्कृत रूपमें था"। x

चीनी यात्री हुएनत्सांगका विवरण। सन् ६३० ई०में हुएनत्सांग नामक एक चीनी यात्री भारतमें आया था। उसने सारे भारतका पर्यटन किया था और यहां १६ वर्ष रहकर वह सन् ६४५ ई०में अपने देशको लौटगया था। उसकी यात्राका हाल एक पुस्तकमें लिखा मिलता है। वह अफगानिस्थानसे होकर भारतमें दाखिल हुआ था। उसे अफगानिस्तानमें दि० जैन लोग एक बड़ी संख्यामें मिले थे। काबुलका राजा हिन्दू था। यदि काबुलके आसपासके पुरातत्वकी खोज की जाय, तो जैन चिन्ह मिलना संभव है। अफगानिस्तानसे अगाड़ी चलकर पेशावर व कान्धारमें भी जैनोंकी बाहुल्यता थी। सिंहपुरमें हुएनत्सांगको दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों संप्रदायके जैनी मिले थे।[२] गांधारमें भी उसे जैनी अधिक संख्यामें मिले थे।[३]

x त्यागभूमि, वर्ष २ भा० १ पृ० ३००–३०३। १–कंजाएंइं० पृ० ६७१। २–भाप्रास्मा० पृ० १९ व कंजाएंइं पृ० १४३। ३–पृ० ६७१।

मालूम होता है कि सिकंदर महानके समयसे ही दिगम्बर जैनोंका प्राबल्य यहां घटा नहीं था। पेशावरके पड़ोसमें स्थित काश्मीरमें भी जैन प्रभाव कार्यकारी था, ऐसा प्रतीत होता है। वहांपर मेघवाहन राजा जैनोंके समान अहिंसा धर्मको पालन करनेकी स्पर्द्धा करता था। उसने यज्ञमें हिंसाका निषेध किया था और एक झीलके किनारे पक्षियों और मछलियोंको न मारनेकी आज्ञा निकाली थी।[१] काश्मीरके एक दूसरे राजा अनन्तिवर्मन (सन् ८५५-८८३ ई०) ने भी ऐसी ही राजाज्ञा प्रगट की थी।[२] इन उल्लेखोंसे काश्मीरमें जैनमुनियोंका प्रभावशाली होना प्रगट है।[३]

इस समयके मुनिजन प्राचीन दिगम्बर भेषमें रहते थे, यह बात हुएनत्सांगके कथनसे प्रमाणित है। वह कहता है कि 'निर्ग्रंथ (Li-hi) लोग अपने शरीरको नग्न रखते हैं और बालोंको नोंच डालते हैं। उनके देहकी चमड़ी चटखजाती है और उनके पैर सख्त होते और फटजाते हैं'। इन्हीं मुनिजनोंकी प्रधानता प्रायः सारे देशमें थी। हुएनत्सांगको समूचे भारतवर्षमें बल्कि उसके बाहर भी जैनी बिखरे हुए मिले थे।[४] मध्य देशमें भी उनका प्रभाव पर्याप्त था। यह बात राजा हर्ष द्वारा बुलाये गये एक सार्वधर्म सम्मेलनके विवरणसे प्रगट है। यह सम्मेलन सम्प्रदाय विशेषका नहीं था।[६] सन् ६४३ ई० के फरवरी और मार्च माससें कन्नौजके बाहर इस सम्मेलनके लिये बने हुए एक राजशिविरमें हर्षने डेरा किया था। चार

१-राजतरङ्गिणी ३-७; १-१२ व ५-११९। २-३-जमीसो० भा० १८ पृ० ३१। ४-ट्रेवेल्स ऑफ ह्युन्तसांग, (st. Julien, Vienna; p.224) ५-हिंसेजै०पृ०४५-४६। ६-हिभाल्डू पृ० २०७।

हज़ार बौद्धभिक्षु इसमें शामिल हुये थे। तीन हज़ार ब्राह्मण और जैन पंडित थे। राजाके मित्र हुनत्सांगसे किसीने शास्त्रार्थ नहीं किया। बल्कि उससे चिढ़कर किन्हीं विरक्षियोंने सभामंडपमें आग लगाकर उसका अन्त कर दिया। कहते हैं कि इस दुष्कार्यके उपलक्षमें ५०० ब्राह्मण देशसे निर्वासित कर दिये गये थे।[1] राजा हर्षने सबही धर्मात्मियोंको उपहार दिये थे। जैनों एवं अन्य लोगोंको भी २० दिन तक यह उपहार मिले थे।[2] इस वर्णनसे कन्नौजके आसपास जैनोंका पर्याप्त संख्यामें प्रभावशाली होना प्रमाणित है। यही कारण है कि उन्हें राज--सम्मेलनमें भुलाया नहीं गया था।

जब हुएनत्सांग बंगालमें पहुंचा तो वहां भी उसे जैनोंकी आबादी मिली। पुण्ड्रवर्द्धन (उत्तरीय बंगाल) में निर्ग्रन्थ लोग (दिगम्बर जैन) सबसे अधिक थे। कामरूपके दक्षिणमें समतट और पूर्वीय बंगालमें भी दिगम्बर जैन असंख्य थे।[3] कलिङ्ग तो जैनोंका मुख्य केन्द्र था और दक्षिण भारतमें भी दिगम्बर जैनोंका प्राबल्य था। गुजरात और काठियावाड़में भी जैनोंकी संख्या अधिक थी।[4] वल्लभीनगर उनका केन्द्र था और मालवामें उज्जैन भी दिगम्बर जैन मुनियोंका मुख्यस्थान बना हुआ था। सारांशतः हुएनत्सांगके वर्णनसे जैनोंका प्रभावशाली अस्तित्व उस समय मिलता है। इतिहासकारोंकी मान्यता है कि सन् ५५०-७५३ ई०के मध्यवर्ती कालमें बौद्धधर्मके ह्रास होनेपर जैनधर्म और पौराणिक हिन्दू मतने बहुत उन्नति की थी।[5]

१-लाभाइ०, पृ० २४२-२४३। २-हिभाल्इ०, पृ० २०५। ३-भाप्र.रइ०, भा० ४ पृ० ३८। ४-कहि०, पृ० १८। ५-लाभाइ०, पृ० २८३।

तत्कालीन शिक्षा प्रणाली।

हुएनत्सांगने उस समय भारतमें एक व्यवस्थित शिक्षा प्रणालीका अच्छा परिचय कराया है। वह कहता है कि बालकोंको शिक्षा 'सिद्धम्' नामक प्राइमरी पुस्तकसे प्रारंभ की जाती थी। जब बालक सात वर्षके होते थे तो उन्हें 'पंच-शास्त्रों'का ज्ञान कराया जाता था। इनमें सर्व प्रमुख व्याकरण था। बादमें साहित्य और कला सिखाई जाती थी। तीसरे शास्त्रके अनुसार आयुर्वेदका अध्ययन कराया जाता था। चौथेमें न्यायशास्त्र और सबके अन्तमें दर्शनशास्त्रकी शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा प्रायः सब ही संप्रदायोंके गृहस्थोंके लिये प्रचलित थी। पठन-पाठनकी प्रणाली मौखिक थी। अध्यापकगण बड़े परिश्रमसे पढ़ाते थे। हैवेल सा० कहते हैं कि भारतीयोंकी यह शिक्षा प्रणाली आजकलके शिक्षाक्रमसे कहीं अच्छी थी।[1]

१–हिआरूइ०, पृ० १८७।

(६)

गुजरातमें जैनधर्म और श्वेताम्बर आगम ग्रन्थोंकी उत्पत्ति ।

प्राचीनकालसे गुजरातमें जैनधर्म ।

प्राचीनकालके तीन अर्थात (१) आनर्त (२) सौराष्ट्र और (३) लाट देशोंका नाम गुजरात है। जैनोंकी मान्यता है कि कर्मभूमिकी आदिमें भगवान् ऋषभदेवके समय विविध देशोंका नामकरण और विभाग हुआ था। परन्तु उस समय यह देश संभवतः सौवीरके नामसे प्रख्यात था। उपरांत भगवान् महावीरजीके समयमें सौवीर वर्तमानके ईडर राज्य जितना था। यहां प्रसिद्ध जिनेन्द्रभक्त राजा उदयन राज्याधिकारी था। किंतु इसके पहले भगवान् नेमनाथके समयमें गुजरातपर यादवोंका अधिकार होगया था। यादवोंके आगमनपर ही द्वारिका नगर बसाया गया था और वहीं उनकी राजधानी था।[१] यादववंशी राजा उग्रसेनका राज्य जूनागढ़में था। भगवान नेमिनाथजीका विवाह इन्हीं राजाकी पुत्री राजकुमारी राजुलसे होना निश्चित हुआ था किन्तु नेमिनाथजी बारातसे ही विरक्त होकर गिरनार पर्वतपर जाकर तपश्चरण करने लगे थे और वहींसे उन्होंने मुक्तपद पाया था। तबसे गिरनार जैनोंका बड़ा तीर्थ है।

ऐतिहासिक कालमें हमें पता चलता है कि गुजरातमें जैन सम्राट् चन्द्रगुप्तका राज्य था। उनके वैश्य जातीय सालेने जूनागढ़में

१-हरि०, पृ० ३९६-३९९।

एक 'सुदर्शन' नामक झील बनवाई थी। बहुत संभव है कि यह श्रेष्ठी-पुत्र भी जैनधर्मानुयायी हो। मौर्य चंद्रगुप्तका प्रपौत्र सम्प्रति परम जैन धर्मानुयायी था, और उसने अनेक जैनमंदिर बनवाये थे, यह लिखा जाचुका है। उसका राज्य गुजरातमें भी था और वहां भी उसके बनाये हुये मंदिर आजतक स्थित बताये जाते हैं; यद्यपि वह मौर्य्य-काल जितने प्राचीन नहीं हैं।[1] सम्प्रतिके भाई शालिशूकने सौराष्ट्रको विजय किया था और जैनधर्मकी विशेष प्रभावना की थी अतः स्पष्ट है कि मौर्य्यकालमें गुजरातमें जैनधर्मका उत्कर्ष खूब था। मौर्य्य साम्राज्यके बाद गुजरातमें विदेशी यूनानियोंका अधिकार जमा था।

ऐतिहासिक कालमें गुजरातका जैनधर्म।

सम्राट् खारवेलने जैन धर्मोन्नतिके अनेक कार्य किये थे। हो सकता है कि गुजरातमें भी उन्होंने जैन-धर्म प्रभावनाके लिये प्रयास किया हो! राजा मिनेन्डर तो जैनधर्मानुयायी प्रगट ही है और उसका राज्य भी गुजरात (सौराष्ट्र) में था। कालकाचार्यके कथानकसे प्रगट है कि इन विदेशियोंमें जैन साधु धर्मप्रचार करते रहते थे। यही बात राजा नरवाहन (नहपान) की कथासे प्रकट है। इन विदेशियोंसे अनेकोंने जैनधर्म ग्रहण किया था। और उनने धर्म प्रभावना करनेके सद्प्रयत्न किये थे। क्षत्रप नहपानने जैनमुनि होकर जैन सिद्धान्तका उद्धार गुजरातमें ही किया था। अंकलेश्वरमें सर्व प्रथम जैनग्रंथ लिपिबद्ध हुये थे। क्षत्रप रुद्रसिंहने जूनागढ़में बाबा प्यारेका मठ और अपरकोटकी गुफायें जैनोंके लिये निर्मित कराई थीं, यह प्रगट किया जा चुका है।

1–राइ०, भा० १ पृ० ९४।

अपरकोटकी गुफायें वह ही प्रतीत होती हैं; जिनमें धरसेनाचार्य अपने संघ सहित रहते थे। मालूम होता है कि गिरिनगरके निकट इन गुफाओंमें जैनोंका एक संघ बहुत दिनोंसे रहता चला आरहा था।[1] सारांशतः इन विदेशियोंके समयमें गुजरातमें जैनधर्मकी विशेष उन्नति थी। सचमुच वहां पर जैनधर्मकी गति एक बहुत प्राचीन कालसे है।[2]

मध्यकालमें गुजरात पर गुप्त वल्लभी आदि राज्य व जैनधर्म।

क्षत्रपवंशके बाद गुजरातमें गुप्तराजा अधिकारी हुये थे। मालूम होता है कि उनके समयमें भी गुजरातमें जैनधर्म उन्नत था। सिद्धसेन दिवाकर प्रभृति जैनाचार्य जैनधर्मका उद्योत करते हुये विचर रहे थे। किन्तु इसके पहले जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामीका गुजरातमें शुभागमन हो चुका था। प्राचीन जैनों और नवीन अर्द्धफालक (खण्डवस्त्रधारी=श्वेतपट) जैनोंमें जो गिरिनार तीर्थके सम्बन्धमें झगडा होरहा था, उसको उन्होंने सरस्वती देवीकी पाषाण मूर्तिको वाचाल करके निवटा दिया था। गुप्तोंके बाद वल्लभीवंशके राजा लोग गुजरातपर शासन करने लगे थे। इनकी राजधानी वल्लभीमें थी। चीन यात्री हुएन-त्सांगने इस नगरको बड़ा समृद्धिशाली पाया था। वहांपर सौसे ऊपर करोड़पति थे और अनेक साधु थे। ध्रुवपद नामक राजा बौद्ध था। वहां मकान व मंदिर ईंटों और लकड़ीके होते थे। शत्रुंजय तीर्थपर एक जैन मंदिर लकड़ीका था; जो राजा कुमार-

१–जविओसो०, भा० १६ पृ० ३०–३१। २–कैहिइ०, भा० १ पृ० १६६। ३–दिगम्बर जैन डायरेक्टरी पृ० ७६९।

पाल सोलंकीके समय जलकर नष्ट होगया था। और उसके स्थानपर पाषाण मंदिर निर्मित था। वल्लभीवंशके ताम्रपत्रोंमें वृषभ चिन्ह है और उनमें भट्टारक शब्द है। इन दोनों बातोंका सम्बन्ध जैनधर्मसे है। मालूम होता है इस वंशके कई राजा जैन धर्मानुयायी थे।

सन् ५२८ ई०का शिलादित्य प्रथम नामक राजा निःसंदेह जैनधर्मानुयायी था। फरिस्ताने उसे 'भारतका राजा जैन' लिखा है। फाह्यान नामक चीनी यात्रीको वल्लभीके जैन राजा भारतपर राज्य करते मिले थे। तब इस वंशका शिलादित्य सप्तम नामक राजा (सन् ३००) जैन सिंहासनारूढ़ था। वल्लभीमें फाह्यानने जिन मंदिरोंके दर्शन किये थे। उस चीनी यात्रीने जैनियोंके पर्यूषण पर्वमें रथोत्सवकी बड़ी प्रशंसा लिखी है। फाह्यानने लिखा है कि उन दिनोंमें देशभरमें कोई किसी जंतुका वध नहीं करता था, न मदिरा पीता था न लहसुन-प्याज खाता था। बाजारमें सूना-गार नहीं थे, न पशुओंका व्यापार होता था, न कसाईकी दुकानें खुली थीं और न शराबकी दुकानें थीं।[1] वल्लभीवंशके नाश होने-पर चालुक्योंने दक्षिणसे आकर गुजरातपर अधिकार जमाया था। इस वंशमें संभवतः जयसिंह वर्मन परम भट्टारक (६६६-६०३) को जैनधर्मसे प्रेम था। इसी समय एक छोटासा गुर्जर राज्य भरु-चके पास राज्य करता था। उसमें जयभट्ट प्रथम एक विजयी और धर्मात्मा राजा था तथा उसकी उपाधिमें 'वीतराग' शब्द है। इसी प्रकार उसके पुत्र दद्दा द्वितीयकी उपाधि 'प्रशांतराग' थी।

१-माडर्नरिव्यू (जुलाई १९३२) पृ० ८८

इन राजाओंका जैनी होना संभव है।[1] चालुक्योंके बाद राष्ट्रकूट वंशका अधिकार गुजरातपर हुआ था।

वल्लभीमें जब ध्रुवसेन प्रथम (५२६–५३५ ई०) राज्य कर रहे थे, उस समय श्वेतांबर संप्रदायमें देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण नामक एक प्रख्यात साधु थे। उन्होंने वल्लभीमें श्वेतांबर जैन संघको एकत्र किया था और उसमें अंग ग्रंथोंका पुनः संशोधन करके उन्हें लिपिबद्ध करदिया।[2] इस समयके बहुत पहले ही श्वेतांबर संप्रदायका जन्म होचुका था और उसने और भी कितनी ही प्राचीन बातोंमें रद्दोबदल किया था; जैसे साधुओंके भेषमें और मूर्तियोंके निर्माणमें आदि। इस अवस्थामें क्षमाश्रमणके लिये यह अवश्यक था कि वह श्वेतांबर जैन सिद्धांतको लिपिबद्ध कर देते। ब्राह्मण और बौद्ध तथापि स्वयं दिगम्बर जैनोंके ग्रंथ पहले ही लिपिबद्ध होचुके थे। श्वेतांबरोंको भी यह ठीक नहीं जंचा कि उनके धर्मग्रंथ पुस्तकरूपमें लिपिबद्ध न हों। वह लिपिबद्ध कर लिये गये और उनमेंसे 'जिनचरित्र' (महावीर चरित्र) का व्याख्यान आनंदपुरमें राजा ध्रुवसेनके समक्ष हुआ था।[3] इस

श्वे० आगम ग्रंथोंकी उत्पत्ति।

१–बंप्राजैस्मा०, पृ० १९५–१९६। २–'कल्पसूत्र' (Jacobi. ed. p. 67) लिखा–'समणस्स भगवो महावीरस्स जावसव्व दुक्खप्पहिणस्स नववासस्स यायिम विक्कय-तइं दसमस्सय वासस्सयस्सा अयं असी इमे संवच्चेरकाले गच्छइ इति।'–विनद विजयगणि इसकी टीकामें लिखते हैं:–'वलही पुरम्मि नयरे देवइढिप मुहसवलसंघेहिं। पुव्वे आगम लिहिऊ नव सय असी आनुवीराउ ॥' ३–उसू०, भूमिका पृ० १६।

प्रकार वर्तमानमें श्वेतांबरोंके जो आगम ग्रंथ मिलते हैं, वह ई० छठी शताब्दिके संशोधित और लिखे हुये हैं। उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा प्रतिपादित यथाजात अंग ग्रन्थ बतलाना एक अति साहसी वक्तव्य है।[1] श्वेतांबर निरुक्तियां भी इन आचार्यकी रचना नहीं हैं; यह विद्वान् प्रगट कर चुके हैं।

श्वे० ग्रंथोंका बौद्ध ग्रंथोंसे सादृश्य।

साथ ही श्वेतांबर आगम ग्रन्थोंका सादृश्य बौद्धोंके पिटक ग्रन्थोंसे बहुत कुछ है। बौद्धोंके पिटक-ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और पाली भाषा श्वेतांबर जैनोंके अंगग्रन्थोंकी अर्द्ध मागधी भाषासे प्राचीन है।[2] इस अवस्थामें यह कहा जासकता है कि अर्द्धमागधीमें पाली भाषासे बहुत कुछ लिया गया है। साथ ही हमें मालूम है कि बौद्धोंके पिटक ग्रंथोंकी व्यवस्था श्वे० जैनोंके पाटलिपुत्रवाले संघके बहुत पहले होचुकी थी और वह लिपिबद्ध भी श्वेतांबर जैनोंके अंग ग्रन्थोंके लिखे जानेके पहले होचुके थे।[3] अतएव यह संभव है कि श्वेतांबर आगम ग्रंथोंमें बहुत कुछ बौद्धोंके पिटकत्रयसे लिया गया हो। बौद्ध श्वे० जैनोंपर इस प्रकारका आक्षेप भी करते हैं। बौद्ध यात्री हुएनत्सांग लिखता है:-"(सिंहपुर) स्तूपकी बगलमें थोड़ी दूरपर एक स्थान है, जहां श्वेतांबर साधुको सिद्धांतोंका ज्ञान हुआ था और उसने सबसे पहले धर्मका उपदेश दिया था।....इन लोगोंने अधिकतर बौद्ध पुस्तकोंमेंसे सिद्धांतोंको

१-जैनसूत्र (S. B. E.) भूमिका भा० २ पृ० ३९ व उसू० भूमिका पृ० १-३२ व सर आसुतोष मिमेरियल वाल्युम पृ० २१। २-इंहिका०, भा० ४ पृ० २३-३०। ३-ममबु०, पृ० १८८।

उड़ाकर अपने धर्ममें सम्मिलित कर लिया है"। (हुएनत्सांगका भारत भ्रमण पृ० १४२) संभवतः यही कारण है कि दिगम्बर मान्यताकी अपेक्षा श्वेतांबरों द्वारा वर्णित भगवान महावीरजीके चरित्रका सादृश्य म० बुद्धके जीवनसे अधिक है। श्वेतांबर भगवान महावीरको म० बुद्धकी तरह यशोदा नामक राजकुमारीसे विवाह करते लिखते हैं और बतलाते हैं कि उनके भाई नन्दवर्धन थे। गौतमबुद्धके भाईका नाम भी नन्द था।[1] दिगम्बर ग्रंथोंमें भगवानका कोई भाई बहिन कोई प्रगट नहीं किया गया है। उनमें भगवानके पंचोंकल्याणोंके समय विशाखा नक्षत्रका होना लिखा है; परन्तु श्वेतांबरोंने तब हस्तोत्तरा नक्षत्रका होना[2] म० बुद्धके जन्म; बोधि और परिनिर्वाण अवसरोंके समान लिखा है।[3]

महावीरजीको श्वेताम्बर ग्रंथोंमें पापोंसे विलग रहनेका निश्चय जिन शब्दोंमें (सव्वं मे अपणिज्जं पापं) प्रकट करते बताया है; करीब २ ठीक वैसे ही शब्दोंमें गौतमबुद्ध वैसा ही निश्चय प्रगट करते हुये बौद्धग्रंथ "धम्मपद" (१८३) में बताये गये हैं (सब्ब पापस्स अकरणं)। केवल इतनी ही सादृश्यता नहीं है बल्कि विद्वानोंने प्रगट कर दिया है कि श्वे० जैन और बौद्ध ग्रंथोंमें अनेकों एक समान कथानक, वाक्य, उक्तियां और उपदेश हैं।[4] 'उत्तराध्ययन सूत्र'में राजा श्रेणिकका समागम जो एक जैन मुनिसे हुआ

१–साम्स ऑफ ब्रदरन, पृ० १२६। २–आसू० २–२४–२०। ३–मनि०, २६–१७। ४–उसू०की भूमिका व 'सर आसुतोष मिमोरियल वॉल्यूम' भा० २ में प्रो० बपटका "जैन अर्द्धमागधी टेक्स्ट" शीर्षक लेख देखो।

बताया गया है. वह 'सुत्तनिपात' (३-१)में वर्णित म० बुद्ध और श्रेणिकके मिलापकी याद दिलाता है। अगाड़ी 'उत्तराध्ययन' में हरिकेश आदिकी कथायें बौद्धोंकी जातक कथाओंके समान हैं।[1] 'उत्तराध्ययन सूत्र' एवं अन्य अंगग्रंथ भी किसी एक आचार्यकी रचना नहीं है। बल्कि वह कई विद्वानोंकी रचना है, यह विदेशी विद्वानोंने सिद्ध किया है।[2] अतएव यह हो सक्ता है कि क्षमाश्रमणने संग्रह करते हुये बौद्ध ग्रंथोंसे भी साहाय्य ग्रहण कर लिया हो; जिससे उनकी रचनायें प्राचीन प्रगट हों। श्वेतांम्बरोंने जो अपने साधुओंके भेषका वर्णन किया है. वह ठीक एक बौद्ध भिक्षुके भेषके समान है। बौद्ध भिक्षुके लिये तीन 'चीवरों' (वस्त्रों)को रखनेका विधान है. श्वेताम्बर ग्रंथ भी 'स्थिवरकल्पी' जैन साधुके लिये तीन वस्त्रोंतकको धारण करनेकी आज्ञा देते हैं। इनके नाम भी प्राय: दोनों संप्रदायोंमें एक समान हैं; जैसे अन्तरिज्जगं-पाली अन्तरावासकं, उत्तरिज्जगं=उत्तरासंगं, संघाडि=संघाटि।[3] इसके अतिरिक्त दोनों संप्रदायोंके शास्त्रोंमें एक जैसे ही वाक्य और शब्द भी मिलते हैं। जैसे कि प्रो० पी० वी० वपट सा० ने प्रगट किये हैं।

(१) वेयरनीऽभिदुग्गां (श्वे० जैन-सूय० १-५-१-८)=अथ वेतरणिम् पतदुग्गं (बौद्ध: सुनि० ६७४)।

(२) विपरियिया समुवेन्ति (आसू० १-२-६-३)= विपरियासमेन्ति।

१-उसू०, भूमिका पृ० ३८-४६। २-उसू० भूमिका पृ० ४०-५० व जैन सूत्रकी भूमिका। ३-सऑम वॉ० भा० २ पृ० ९६-९७।

(३) जस्स नत्थि ममायितं (आसू० १–२–६–४)= यस्स नत्थि ममायितं (मुनि० ९५०) ।

(४) उक्कुञ्चग—वञ्चग, माया, नियडि, कूड, कवट, साइ, सम्पयोग बहुला (सूत्र० २–२. २९ वां सूत्र)=३ कोतन वंचन, निकति, माचियोग....(दीनि० १–१–१०) ।

(५) पुव्वुट्ठाई पच्छाणिवाती (आसू० १–५–२३) पुव्वुट्ठाई पच्छानिपाती ।

(६) इच्चत्थं गढै लोए (आसू० १–५–२३)–एत्थ गत्तिनो लोको ।

(७) उड्ढं अहं तिरियं दिसासु (आसू० १–८–१८)= उद्धं अधो च तिरियं च (मुनि० १५५) ।

(८) आहारोवचेया देहा (आसू० १–८–३–५)=सरीणं आहारोवेयं–आहारोपचितो देहो ।

(९) अहुणा पव्वजितो (आसू० १–९–१–१)=अचिरपब्बजितो ।

(१०) मायण्णे असणपाणस्स (आसू० १–९–१–२०) =मत्तञ्ञू होति भोजने ।

(११) गामे वा अदु वा रण्णे (आसू० १–८–८–७)= गामे वा यदि वाऽरण्णे । (मुनि० ११९) इत्यादि वाक्योंके अतिरिक्त अनेक शब्द भी समान हैं । यथा:—

" सयणासण=(पाली) सेनासमन, लूह=लुख, सेह=सेख, वुसीमउ= वुसीमतो, णीवारा=निवाप, मच्छिय=मक्खा या मानिया, भूइपण्णे=

भूरिपञ्जो, विगयगेही=विगतगिद्धो; इत्यादि, इत्यादि। (देखो सर आसुतोष मेमोरियल वॉल्यूम, भा० २ पृ० १०१–१०३)।

अतएव यह बहुत कुछ संभव है कि क्षमा श्रमणके समयमें श्वेताम्बर आगम ग्रंथोंमें बौद्ध साहित्यसे साहाय्य ग्रहण किया गया हो। डॉ० बुल्हर भी इस बातको संभव बताते हैं।*

हैहय व कलचूरी राजा और जैनधर्म। विक्रम संवत् ५५० से ७००के बीचमें हैहय अथवा कलचुरि वंशके राजाओंका राज्य भी चेदी और गुजरात (लाट) में था।[1] इस वंशके राजा भारतमें एक प्राचीन कालसे राज्य कर रहे थे। किन्तु इनका पूर्व वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। हैहयवंशी राजा अपनी उत्पत्ति नर्मदा तट पर स्थित माहिष्मतीके राजा कार्तवीर्यसे बतलाते हैं।[2] इनकी उपाधि 'कालंजर-परवाराधीश्वर' भी है इससे इनका निकास कालंजर नामसे हुआ अनुमान किया जाता है। कनिंघम सा०के अनुसार ९ वींसे ११ वी शताब्दि तक हैहय राजागण बुन्देलखंडमें चेदिवंशकी एक बलवान शाखा थी।[3] चेदि राष्ट्रकी उत्पत्ति जैनराजा अभिचंद्रसे हुई थी।[4] और चेदिवंशमें जैनसम्राट् खारवेल हुये थे। हैहय अथवा कलचुरि लोग भी जैनी थे। 'कलचुरि' शब्दका अर्थ ही उनके जैनत्वका द्योतक है अर्थात 'कल'=देह और चुरि=नाश करना। देहको नाश

* "In the late fixing of the canon of the Swetamberas in the sixth century after Christ, it may have been drawn from Buddhist works, *Indian sect of the Jainas p 45*

१–भाप्रारा०, भा० १ पृ० ३९। २–एइ०, भा० २ पृ० ८। ३–बंप्राजैस्मा०, पृ० ११३–११९। ४–हरि०, पृ० १९४।

करके परम अतीन्द्रिय सुख पानेका विधान जैनधर्ममें है। हैहय और चेदि शब्द भी जैनत्वके द्योतक हैं। हैहय 'अघहय' अथवा अहहयका रूपान्तर है अर्थात् पापोंके चूरनेवाला। चेदिसे भाव आत्माको चेतानेवालेका है। दक्षिण भारतमें इस वंशके राजाओंने जैनधर्मके लिये बड़े अच्छे २ काम किये थे। इस वंशके राजा शंकरगणने, जिनकी राजधानी जबलपुर जिलेकी तेवर (त्रिपुरी) थी, कुल्पाक तीर्थकी स्थापना (सं० ६८० में) की थी। हैहयोंमें कर्णदेव राजा प्रख्यात थे।[1] यह वीर थे और इन्होंने कई लड़ाइयां लड़ी थीं। इनकी राजधानी काशीमें थी। मालवाके राजा भोजको इन्होंने परास्त किया था। गुजरातके राजा भीमको भी इन्होंने अपने साथ रक्खा था। इनका विवाह हूण जातिकी आवल्लदेवीसे हुआ था; जिससे यशःकर्णदेवका जन्म हुआ था। हैहयवंशकी इस शाखाका अस्तित्व १३ वीं शताब्दि तक रहा था।

चाल्युक्य राजा व जैनधर्म। गुजरातमें चालुक्य वंशके राजाओंने सन् ६३४ से ७४० तक राज्य किया था। इनके एवं गुर्जर और राष्ट्रवंशके अधिकारके समय गुजरातमें साहित्यकी खूब उन्नति हुई थी। तथा इन राजाओंने जैनधर्मको महत्व दिया था।[2] इस वंशका प्राचीन लेख धारवाड़ जिलेमें आदुर ग्राममें मिला है। यह राजकीर्तिवर्मा प्रथमका है और इसमें राजाके दानका उल्लेख है, जो उसने नगरसेठ द्वारा बनवाये गये जैनमंदिरको दिया था।[3] बंका-

१-भाप्रारा०, भा० १ पृ० ४८-५०। २ बंप्राजैस्मा०, पृ० १।
३-बंप्राजैस्मा०, पृ० ११३-१२०।

पुरसे २० मिलकी दूरीपर लखमेश्वर नामक स्थानसे तीन शिलालेख (१) राजा विनयदित्य (६८०-६९७), (२) विजयदित्य (६९७-७३३), (३) और राजा विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-७४७) के शासनकालके मिले हैं उनमें जैन मंदिरों और गुरुओंको दान देनेका उल्लेख है। इन दातारोंमें एक हरिकेशरीदेव बंकापुरके निवासी थे। इन्होंने पांच धार्मिक महाविद्यालयोंकी स्थापना की थी। यह नगरसेठ थे और महाजन थे। इस समय यह स्थान जैनधर्मका केन्द्र बनरहा था। श्रीगुणभद्राचार्यजीने अपना 'उत्तरपुराण' सन् ८९८ में यहीं समाप्त किया था। तब यह स्थान बनवासी राज्यकी राजधानी थी और यहां राष्ट्रकूटवंशी राजा अकालवर्षका सामन्त लोकादित्य राज्य करता था, जो जैनधर्मका भक्त था। चालुक्यवंशमें सत्याश्रय पुलिकेशी द्वितीयके समान कोई भी प्रतापी राजा नहीं हुआ। वह शक सं० ५३१में राजगादी पर बैठा था। इस वंशके अन्य राजाओंका विशेष वर्णन हम तीसरे खण्डमें करेंगे।

राष्ट्रकूटवंशमें जैनधर्म। राष्ट्रकूट वंशके राजा लोग गुजरातमें सन् ७४३ में शासनाधिकारी हुये थे।[1] यह अपनेको चन्द्रवंशी अथवा यदुवंशी कहते हैं। राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविंद तृतीयने (८१२ ई०) लाटदेश (गुजरात) का राज्य अपने छोटे भाई इन्द्रराजके सुपुर्द किया था। गोविन्द बड़ा प्रतापी राजा था। प्रभूतवर्ष गंगवंशी द्वितीयने चाकि राजाके अनुरोधसे जैन मुनि विजयकीर्तिके शिष्य अर्ककीर्तिको दान दिया

१-माप्राग०, भा० २ पृ० ६९।

था । राष्ट्रकूटवंशकी गुजरातवाली शाखामें इन्द्रका उत्तराधिकारी कर्क प्रथम (८१२-८२१) हुआ था. जिसने नौसारी (सूरत) के एक जैन मंदिरको अम्बापातक नामका ग्राम भेंट किया था।[१] सन् ९१० ई०के लगभग राष्ट्रकूटवंशकी इस शाखाका अंत होगया था। सन् ९७२ ई०में गुजरात पश्चिमी चालुक्य राजा तैलप्पके अधिकारमें चला गया।

चावड़ राजाओंके जैनकार्य ।

गुजरातमें चावड़वंशका राज्य भी सन् ७२० से ९६१ तक रहा था। पहले चावड़ सरदार पंचासर ग्राममें राज्य करते थे। सन् ६९६ में जयशेखर चावड़को चालुक्य राजा भुवड़ने मार डाला। उसकी रूपसुंदरी नामक स्त्री गर्भवती थी। इसीका पुत्र वनराज था: जिसने अनहिलवाड़ा बसाया और अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करके सन् ७४६ से ७८० तक राज्य किया। वनराज जैनधर्मानुयायी था। इसने पंचासर पार्श्वनाथजीका जैन मंदिर बनवाया था। वनराजका उत्तराधिकारी उसका भाई योगराज हुआ और उसके पश्चात् चार राजाओंने इस वंशमें सन् ९६१ तक राज्य किया था।[४] वनराजका मुख्य मंत्री चम्पा नामक जैन श्रेष्ठी था: जिनका व्यापार अफरीका व अरबमें खूब चलता था. उन्होंने

१-इऐं०, भा० १२ पृ० १३-१६-यह जैनमुनि अर्ककीर्ति श्री कीर्त्याचार्यके अन्वयमें थे: । श्री यापनीय नंदिसंघपुंनागवृक्षमूलगणे श्री कीर्त्याचर्यान्वये ॥" २-बंप्राजैस्मा० पृ० २०० । ३-भाप्राए० भा० ३ पृ० ७९ । ४-बंप्राजैस्मा०, पृ० २०२-२०३ ।

कई जैन मंदिर बनवाये थे। चम्पानेर नामक नगरकी नींव भी उन्होंने डाली थी।[1]

चावड़ोंके बाद गुजरातमें सोलंकियोंका राज्याधिकार सन् ९६४ से १२४२ ई० तक रहा था। सोलंकी राजा जैनधर्मानुयायी थे। अंतिम चावड़ा राजा भूभत था। उसकी बहिनका विवाह चालुक्य अथवा सोलंकी राजा महाराजाधिराज राजीमे हुआ था।

सोलंकी राजा व जैनधर्म।

इसी राजीका पुत्र मूलराज भूभतके बाद गुजरातका राजा हुआ था। गुजरातमें इसीसे सोलंकी वंशका प्रारंभ हुआ माना जाता है। यह प्रभावशाली राजा था। इसने अपने राज्यका विस्तार किया था। लाड़के राजा बारप्पासे तथा अजमेरके राजा विग्रहराजसे युद्ध किया था। मूलराजका बनवाया हुआ जैनमंदिर अनहिल्वाडामें 'मूल-वसिका' नामसे प्रसिद्ध है। इसके बनाये हुये शिवमंदिर भी मिलते हैं। मूलराजने अपना बहुतसा समय सिद्धपुरके पवित्र मंदिरमें बिताया था, जो अनहिलवाड़ासे उत्तर पूर्व १५ मील है।[2] मूलराजका उत्तराधिकारी उसका पुत्र चामुड़ (९९७-१०१०) हुआ। चामुड़ बनारसकी यात्राको गया था कि मार्गमें राजा मुंजने हरा कर इसका छत्र छीन लिया था। चामुड़के बाद दुर्लभराजा हुआ और उसके बाद उसका भतीजा भीम प्रथम (सन् १०२२-१०६४) शासनाधिकारी हुआ था। भीमने सिंधुदेश और चेदि अथवा बुन्देलखंड पर हमला किया था और इसमें वह विजयी हुआ था। महमद गजनवी द्वारा नष्ट किये गये

१-बंप्राजैस्मा०, पृ० ८-१७। २-बंप्राजैस्मा०, पृ० २०३-२०४।

सोमनाथके मंदिरको इसने फिरसे पाषाणका बनवा दिया था। भीमकी अनबन आबूके सरदार धन्धुक परमारसे हुई थी और उसके सेनापति विमलने उसे परास्त किया था।[1] आबूकी चित्रकूट पहाडी विमलशाहको मिली; जिसपर उसने सुंदर जैन मंदिर बनवाया। यह मंदिर 'विमलवसही' नामसे प्रसिद्ध है। इस मंदिरके विषयमें कर्नल टॉड सा० ने "ट्रेविल्स इन वेस्टर्न इन्डिया" में लिखा है कि "हिन्दुस्तान भरमें यह मंदिर सर्वोत्तम है और ताजमहालके सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समता नहीं कर सक्ता।[2] 'उदय-वराह' नामक भीमका पुत्र कर्ण उसके उपरान्त राज्यका अधिकारी हुआ। इसने सन १०६४ से १०९४ ई० तक मुंजालु, सांतु और उदय नामक मंत्रियोंकी सम्मतिसे राज्य किया।[3]

उदय मारवाडके श्रीमाली बनिये थे। इन्होंने कर्णावती नगरमें एक जैन मंदिर बनवाया था; जिसमें ७२ तीर्थङ्करोंकी मूर्तियां विराजमान थीं।[4] कर्णावती नगरीकी स्थापना राजा कर्णद्वारा हुई थी और यह नगर आजकल अहमदाबादके नामसे प्रसिद्ध है। उदयके पांच पुत्र—आहड़, चाहड़, बाहड़, अंबड और सोला थे। इनमेंसे पहले चारने राजा कुमारपालकी सेवा की थी और सोला व्यापारी हो गया था। दूसरे मंत्री सांतु भी जैनी थे। इन्होंने सांतु-वसही नामक जैनमंदिर बनवाया था।[5] राजा कर्णने श्वेताम्बराचार्य अभयदेवसूरिका आदर किया था। इनका विरुद 'मलधारिन्' था

१-बंप्राजैस्मा०, पृ० २०४-२०५। २-राइ०, भा० १ पृ० २३। ३ बंप्राजैस्मा०, पृ० २०९। ४-हिवि०, भा० ३ पृ० २३९। ५-बंप्राजैस्मा०, पृ० २०९।

और यह 'प्रश्नवाहनकुल, कोटिकगण, मध्यमशाखा, स्थूलिभद्र मुनि-वंशे हर्षपुरीय गच्छके जयसिंहसूरीके शिष्य थे। इनने कितनेही ब्राह्मणोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया था।

सौराष्ट्रके खेङ्गार और सकम्भरिके पृथ्वीराजचौहानसे आदर पाया था। अजमेरमें इनका स्वर्गवास हुआ थे। कर्णका उत्तराधिकारी उनके पुत्र सिद्धराज जयसिंहने सन् १०९४-११४३ तक राज्य किया। मुंजाल और संतु इसके भी मंत्री रहे थे। सिद्धराज एक बड़ा बलवान, धार्मिक व दानी राजा था। यह सोमनाथ महादेवका भी भक्त था। इसे मंत्रशास्त्र भी ज्ञात था; जिसके कारण इसको 'सिद्धचक्रवर्ती' कहते थे।[२] सिद्धपुरमें सरस्वती नदीके किनारे इसने 'रुद्रमाल' नामक एक बृहद् शिवालय और जैन तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामीका मंदिर बनवाया।[३] इसने वर्द्धमानपुर (वधवान)में सौराष्ट्र राजा नोधनको विजय किया तथा सोरठदेश लेकर सज्जनको अधिकारी नियत किया। सज्जनने श्री गिरिनारमें नेमिनाथजीका जैन मंदिर बनवाया। सिद्धराजको जैनधर्मसे भी प्रेम था। इसने श्री शत्रुंजयजीकी यात्रा करके श्री आदिनाथजीको १२ ग्राम भेंट किये थे।

सिद्धराजने एक संवत भी चलाया था।[४] मालवाके राजा नरवर्मा परमार तथा यशोवर्मा परमारसे इसका एक युद्ध लगभग १२ वर्ष तक हुआ था। अंतमें सन ११३४ में सिद्धराज विजयी हुआ था। तबसे इसका नाम 'अवन्तिनाथ' प्रसिद्ध हुआ था।[५] बर्बर

१-डिजैबा०, पृ० ८। २-बप्राजैस्मा०, पृ० २०६। ३-हिवि०, भा० ७ पृ० ९९४। ४-बंप्राजैस्मा०, पृ० २०६। ५-इंए०, भा० ६ पृ० १९४।

राजाको भी इसने परास्त किया था ।[१] महोबाके चंदेलराजा मदनवर्माने इससे सन्धि करली थी । श्वेताम्बर जैनाचार्य हेमचन्द्रने इसी समय 'सिद्धहेम व्याकरण और द्वाश्रय द्राव्य लिखा था ।[२] राजा सिद्धराजने एक बाद सभा भी कराई थी । करणटक देशसे कुमुदचंद्र नामक एक दिगम्बर जैनाचार्य अहमदाबाद आये थे । श्वेताम्बराचार्य देवसूरि तब वहां 'अरिष्टनेमिके जैनमंदिरमें थे । किन्तु इन्होंने वहां शास्त्रार्थ करना मंजूर नहीं किया । दिगम्बराचार्य नग्नावस्थामें ही पाटन पहुंचे । सिद्धराजने उनका बड़ा आदर किया । हेमचंद्राचार्य बाद करनेको राजी न हुये । इस कारण देवसूरिसे वाद हुआ । सभामें कुमुदचंद्रने कहा कि कोई स्त्री मुक्ति नहीं पा सकी । सिद्धराजने इससे महारानीका अपमान हुआ समझा । उधर सवस्त्र साधु दशामें मोक्षनिषेध करनेके कारण राजमंत्री भी रुष्ट हो गये । सभामें हुल्लड मचगया और कुमुदचंद्रको पराजित तथा उनके प्रतिपक्षी देवसूरिको विजयी ठहरा दिया गया ।[३] देवसूरिको अजितसूरि भी कहा गया है और यह 'स्याद्वाद-रत्नाकर' नामक ग्रंथके कर्ता थे ।[४]

सिद्धराजके एक मंत्री आलिग नामक भी था । उसने वि० सं० ११०८में एक जैन मंदिर निर्मापित कराया था और उसका नाम 'राजविहार' रक्खा था । उसके मित्र सज्जन जूनागढ़के शासक जैन धर्मानुयायी थे । सिद्धराजने 'आनन्दसूरि और उनके सहभ्राता

१-हिवि०, भा० ७ पृ० ५९४ । २-बंप्राजैस्मा०, पृ० २०७। ३-हिवि०, भा० ५ पृ० १०५ व बंप्राजैस्मा०, पृ० २०७-२०८ । ४-डिजैबा० भाग १ पृ० ३१ ।

अमरचंन्द्रसूरिका बड़ा आदर किया था। और उन्हें क्रमशः 'व्याघ्र-शिशुक' व 'सिंहशिशुक' नामक उपाधियोंसे विभूषित किया था। ये दोनों श्वेताम्बराचार्य बड़े भारी नैयायिक थे। इनके शिष्य हरिभद्रसूरि द्वितीय नागेन्द्र गच्छीय थे। इनकी प्रसिद्धि "कलि-काल गौतम" के नामसे थी।[1] इनके दो शिष्य हंस और परमहंस नामक जैनधर्म प्रचार करते हुये भोटादेशमें (तिब्बतमें) बौद्धोंद्वारा मार डाले गये बताये जाते हैं।[1] जयसिंह सिद्धराजकी मृत्यु सन् ११४३ ई० में हुई थी।

सिद्धराजके कोई पुत्र नहीं था। किन्तु भीम प्रथमकी एक

प्रेमिकासे उत्पन्न पुत्र हरिपालकी संतान इस

सम्राट् कुमारपाल। समय मौजूद थी। इस कारण त्रिभुवनपाल

और उसके तीन लड़के जिनमें सबसे बड़े

कुमारपाल थे, राज्य पानेके प्रयत्न करने लगे और अन्तमें कुमारपाल चालुक्यवंशका राजा हुआ[2]। कोई कुमारपालको सिद्धराजका भाणेज बतलाते हैं[3]। कुमारपालकी एक बहिन प्रमलदेवीका विवाह सिद्ध-राजके सेनापति कृष्णदेवसे हुआ था और दूसरी बहिन देवल सपा-दलक्षके राजा अर्णोराजको विवाही गई थी। सिद्धराजकी मन्शा नहीं थी कि कुमारपालको राज्य मिले। उसने त्रिभुवनपालको मरवा डाला और कुमारपालको मरवानेके भी उसने प्रयत्न किये; किन्तु अनहिलपट्टनके आलिङ्ग नामक कुम्हारकी सहायतासे कुमारपालकी रक्षा हुई। वह भृगुकच्छको भाग गया। कैम्बयपत्तन (Cambay) में

१-जैहि०, भा० १० पृ० ३४०। २-सडिजै०, पृ० ३, ३-हिवि०, भा० ९ पृ० ८३।

कैलम्बराजने इनको अर्धांश दे संरक्षण किया। फिर प्रतिष्ठानपुर, उज्जयनी आदि स्थानोंमें कुछ समय बिताकर वह नागेन्द्रपत्तनमें अपने बहनोई कण्हदेवके पास रहे। कैलम्बराजकी सहायतासे इन्होंने राज्याधिकार प्राप्त किया था। राजपुरोहित देवश्रीने इनका राज्याभिषेक किया था। राजा होने पर कुमारपालने इन सबका समुचित आदर किया था। अलिङ्ग कुम्हार उनके राजदरबारका मुसाहिब नियत हुआ था। इस समय कुमारपालकी अवस्था पचास वर्षके लगभग थी। इनका जन्म सन् १०९३ में दधिस्थली (देवस्थली) में हुआ था। यहीं श्वेतांबराचार्य हेमचन्द्रजीसे इनने सदुपदेश ग्रहण किया था।[1]

कुमारपालकी साम्राज्य वृद्धि।

कुमारपाल राजा हो गये; परन्तु पुराने राजदरबारी इनके खिलाफ रहे। फलतः इनने उनका निराकरण किया। कण्हदेवने कुमारपालको राजा बनानेमें पूरी सहायता दी थी; इस कारण वह इनको कोई चीज़ ही नहीं समझता था। कुमारपालने उसे सावधान किया; परन्तु वह नहीं माना। आखिर उनने उसे गिरफ्तार कराके उसकी आंखें निकलवालीं। सिद्धराजने एक छहड़ नामक व्यक्तिको गोद लेकर उसे अपना पुत्र प्रगट किया था। कुमारपालके राजा होनेसे वह रुष्ट होकर सपादलक्ष पहुंचा और वहां अर्णोराजने उसे आश्रय दिया था। और उसके लिये उसने कुमारपालसे लड़ाई भी लड़ी; किन्तु उसमें उसकी हार हुई।

१-सडिजै०, पृ० ५; हिवि०, भा० २ पृ० ८२ व बंप्रा जैस्मा० पृ० २०८-२०९।

अम्बड़को कुमारपालने माफ करके उसे राजदरबारमें एक उच्च पदपर नियत किया। इसी बीचमें चन्द्रावतीका सरदार विक्रमसिंह भी कुमारपालके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ; किन्तु उसे भी मुंहकी खानी पड़ी। उसकी जागीर छीनकर कुमारपालने अपने भतीजे यशोधवलको देदी। इसके बाद कुमारपालने मालवाके राजाको प्राणरहित किया और चित्तौरको जीतकर पंजाबमें अपना झंडा फहराया। चित्तौरकी जागीरको उसने अलिङ्कके सुपुर्द किया और वह स्वयं 'अवन्तीनाथ' कहलाया। सन् ११५० के लगभग कुमारपालने सपादलक्षपर हमला किया था; क्योंकि अर्णोराजने उसकी बहिनका अपमान किया था। परिणामतः अर्णोराजको कुमारपालकी सत्ता स्वीकार करना पड़ी थी। सन् ११५६ ई० के करीब कुमारपालने उत्तरीय कोङ्कणको जीतनेके लिये अपने सेनापति अम्बड़को भेजा था; किन्तु वह वहांके राजा मल्लिकार्जुन सिल्हारसे हार गया। कुमारपाल इससे हताश नहीं हुआ और दूसरे हमलेमें अम्बड़ सिल्हार राजाको नष्ट करके कोङ्कणदेशको चालुक्य साम्राज्यमें मिलानेमें सफल हुआ। इस विजयकी खुशीमें कुमारपालने अम्बड़को 'राजपितामह' के विरुदसे विभूषित किया था।[1]

जैन मंत्री बाहड़। कुमारपालने उदयनको मंत्री और उसके पुत्र बाहड़को महामात्य नियत किया था। गुजरातके एक युद्धमें यह जैन मंत्री घायल हो गया और सन् ११४९ में मर गया। उसकी इच्छानुसार उसके पुत्र बाहड़ और अम्बड़ने शत्रुंजय आदि तीर्थोंपर जैन मंदिर आदि बनवाये थे। जब भृगुकच्छका विहारमें श्री मुनिसुव्रतनाथजीकी

१-सहिजै० पृ० ८-९.

प्रतिष्ठा हुई थी। तब कुमारपाल अपनी सभा मण्डली सहित पधारे थे। बाहड़ने शत्रुंजयके पास बाहड़पुर बसाया था और 'त्रिभुवनपाल' नामक जैन मंदिर बनवाया। गिरनारपर सीढ़ियां बनवाई थी और सोमनाथके मंदिरका जीर्णोद्धार किया था। पाटण, धंधुका आदि स्थानोंपर भी मंदिर बनवाये थे।[1]

कुमारपाल व जैनधर्म। कुमारपाल अपने प्रारंभिक जीवनमें शैवधर्मानुयायी था और मांस-मद्यमें उसे परहेज न था। वह पशुओंकी बलि देता था। किन्तु श्री हेमचंद्राचार्यके उपदेशसे कुमारपालको जैनधर्ममें रुचि हो गई और उसने सन् ११५९ में प्रगटतः जैनधर्मको ग्रहण कर लिया। कुमारपालने श्रावकके व्रतोंको धारण किया था और उसने धर्मप्रचारके लिये बहु प्रयास किये थे। कुमारपालके जैनी होने पर भी उसके नागर ब्राह्मण पुरोहितोंने अपनी पुरोहिताई छोड़ी नहीं थी।[2] जैनधर्मके संसर्गमें आकर कुमारपालकी बिल्कुल कायापलट होगई। वह एक बड़ा अहिंसक वीर हो गया। मद्य मांसादि सब ही उससे छूट गये। उसने अहिंसा धर्मका खूब प्रचार किया। अपने राज्यमें अभयदान सूचक 'अमारी घोष' उसने कई वार कराये थे। जीवहत्या करनेवालेको प्राणदण्ड नियत किया था।[3] वैसे उसने प्राणदण्ड उठा दिया था। बनारसके राजा जयचंद्रके दरबारमें उसने उपदेशक भेजे थे कि वह अपने राज्यमें हिंसाका निषेध कर दे। अपने पड़ोसके कमजोर राजाओंके अधिकारोंको भी

१-बंप्राजैस्मा० पृ० २०९-२१०। २-राइ० भा० १ पृ० ११४। ३-अहिइ० पृ० १९०।

सुरक्षित रक्खा था। विधवाओंकी सम्पत्तिको ग्रहण करना भी उसने छोड़ दिया था। मद्यविक्री उसने क़ानूनन नाजायज़ ठहरा दी थी और जुआ तथा शिकार खेलनेके विरोधमें भी क़ानून बनाये थे।[१] कुमारपालके इस अनुकरणीय कार्यका प्रभाव तत्कालीक अन्य राजाओं पर भी पड़ा था। राजपूतानेके कई राजाओंने हिंसा रोकनेके लेख खुदवाये थे, जो अबतक विद्यमान हैं।[२] कुमारपालने शत्रुंजयजी गिरनारजी आदिकी यात्राका एक जैनसंघ निकालकर 'संघपति' की उपाधि ग्रहण कीथी और अनेक जैनमंदिर बनवाये थे। औषधालय भी अनेक खुलवाये थे: जिनमें गरीबोंको मुफ्त दवा और आहार मिलता था। उसने पोषधशालायें और उपाश्रय भी बनवाए थे।[३]

कुमारपाल व साहित्य वृद्धि।

जिस समय कुमारपाल राजगद्दीपर आरूढ़ हुये उस समय वह लिखना पढ़ना कुछ भी नहीं जानते थे; किंतु कपर्दिन नामक राजमंत्रीके कहनेसे उनने एक वर्षमें ही पढ़ना सीख लिया। अकबरके समान उन्हें विद्वानोंकी संगतिका बड़ा शौक था। वह विद्वानोंके व्याख्यान और उपदेश बड़े चावसे सुना करते थे। उनके गुरु हेमचन्द्राचार्य बड़े प्रख्यात और विद्वान् श्वेतांबर साधु थे। उनका जन्म अहमदाबादके निकट धंधुक ग्राममें सन् १०८८ में एक जैन वैश्य परिवारके मध्य हुआ था और उनका गृहस्थ दशाका नाम चङ्गदेव था। उनके विद्यागुरु देवचंद साधु थे; जिनने कैम्बे लेजाकर इनको पढ़ाया था। श्वेतांबर संप्रदायमें उनकी

१–सहिजै० पृ० ९–१०। २–राइ० भा० १ पृ० ११। ३–संप्राजैस्मा० पृ० २१० व सहिजै० पृ० १०–११।

बड़ी मान्यता है। उन्होंने गुजरातका इतिहास भी लिखा था। तथापि उनके अन्य ग्रंथ धर्म, सिद्धान्त और साहित्य विषयोंपर बड़े मार्मिक हैं; जैसे योगशास्त्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, द्व्याश्रय, शब्दानुशासन इत्यादि।[1] हेमचन्द्रके अतिरिक्त कुमारपालके दरबारमें रामचंद्र और उदयचंद्र नामक जैन पण्डित भी थे। रामचंद्रके काव्य ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। 'प्रबन्धशतक' ग्रन्थ उन्हींकी रचना है। किंतु राजकवि होनेका सौभाग्य कवि श्रीपालको ही प्राप्त था और सोल्क नामक गवैया राजदरबारमें संगीत शास्त्रका पण्डित था। कुमारपालने इक्कीस शास्त्रभंडार अथवा पुस्तकालय स्थापित किये थे और एक 'प्रतिलिपि-विभाग' खोला था; जिसके द्वारा प्राचीन ग्रंथोंकी नकल की जाती थी।[2]

कुमारपालका गार्हस्थ्य व अंतिम जीवन।

कहते हैं कि अपनी दिग्विजयमें कुमारपाल जब सिंधु सौवीर देशको विजय कर रहे थे तब सिंधुके पश्चिम पारस्थ पद्मपुरकी राजकन्या पद्मिनीके साथ उनका विवाह हुआ था। किंतु अन्यत्र उनकी महारानीका नाम भूपालदेवी लिखा मिलता है।[3] भूपालदेवीकी कोखसे उन्हें एक कन्याका जन्म हुआ था। कुमारपालके कोई पुत्र नहीं था। इस कन्याका नाम लिल्ह था और इसका पुत्र प्रतापमल कुमारपालका उत्तराधिकारी था। किंतु प्रतापमलके अतिरिक्त कुमारपालके भतीजे अजयपालका भी

१-हॉजै० पृ० २८७। २-सडिजै०, पृ० ११-१२। ३-हिवि०, भा० ९ पृ० ८३। ४-सडिजै०, पृ० १२ व बंप्राजैस्मा०, पृ० २०९-२१०।

हक़ राजगद्दी पर था। कुमारपालने अजयपालको राजसिंहासन नहीं दिया, बल्कि हेमचंद्राचार्य आदिकी सम्मतिसे प्रतापमलको ही अपना उत्तराधिकारी नियत कर दिया। इसी समय हेमचंद्राचार्यका स्वास्थ्य खराब होगया और उनका स्वर्गवास चौरासी वर्षकी अवस्थामें सन ११७२ में होगया। कुमारपालके दिलको उनके स्वर्गवाससे बड़ा भारी धक्का लगा और ६ महीनेके भीतर ही उनकी ऐसी शोचनीय दशा होगई कि वह चारपाईसे लग गये। और सन् ११७४ में वह भी अपने गुरुके अनुगामी होगये। कुमारपाल एक आदर्श राजा थे। उनकी उदारता मानुओं जैसी थी और बुद्धिमत्तामें वह एक अच्छे राजनीतिज्ञसे बढ़ चढ़कर थे। वह न्यायी और परिश्रमी भी खूब थे। अपने दैनिक जीवनमें वह सादा मिजाज और मितव्ययी थे तथापि धार्मिक व्रतोंके पालन करनेमें वह कट्टर थे। उनकी 'परनारीसहोदर', 'शरणागतवज्रपञ्जर', 'जीवदाता', 'विचार-चतुर्मुख', 'दीनोद्धारक', 'राजर्षि' आदि उपाधियां सर्वथा उन्हींके उपयुक्त थीं।

मालवेकी राज्यका पतन।

कुमारपालके पश्चात अजयपालने राज्यपर अधिकार जमा लिया था। चालुक्य सम्राट् होनेपर उसने उन लोगोंसे बदला लिया था; जिन्होंने उसके विरुद्ध प्रतापमल्लको राज्य देनेकी सम्मति दी थी। उसने बड़ी निर्दयतासे पहले राजदरबारियोंकी जीवन लीलायें समाप्त की थी और अनेक जैन मंदिर उसने धराशायी कर दिये थे। राजमंत्री कपर्दिनको पकड़वाकर उसने बंदीखानेमें डलवा दिया था। कवि रामचन्द्रको ताम्बेकी गरम

चहरपर बिठलाकर प्राण रहित कर दिया था। और फिर सेनापति अम्बड़को उसने ललकारा था; किन्तु धर्मात्मा वीर अम्बड़ने इस धर्मद्रोही राजाकी सेवा करना स्वीकार नहीं की। उसने दृढ़ता और निर्भीकतासे कहा कि इस जन्ममें मेरे देव श्री अरहंत भगवानके सिवा और कोई नहीं हैं। गुरु हेमचन्द्राचार्य रहे हैं और कुमारपाल स्वामी थे। इनके अतिरिक्त मैं किसीकी सेवा नहीं कर सक्ता। अजयपाल यह सुनते ही आग बबूला होगया। अंबड़ और अजयपालका युद्ध हुआ और अंबड़ अपने धर्म और राजाके लिये उसमें वीरगतिको प्राप्त हुआ। अत्याचारी अजयपाल भी अधिक दिन जीवित न रहा। तीन वर्षके भीतर ही उसके एक दरवानने उसका कतल कर दिया। अजयपालके बाद मूलराज द्वितीय और भीम द्वितीय नामक राजा इस वंशमें और हुये थे और इनके साथ ही सन् १२४२ में इस वंशका अन्त होगया।

वाघेलवंश और जैनधर्म।

भीमके बाद वाघेलवंशने सन् १२१९ से १३०४ तक गुजरातपर राज्य किया था; जो सोलंकी वंशकी ही एक शाखा थी। इस वंशका पहला राजा अर्ण कुमारपालकी माताकी बहनका पुत्र था। इसने सन ११७० से १२०० तक अनहिलवाड़ासे दक्षिण-पश्चिम १० मील वाघेला नामक ग्राममें राज्य किया था। इनका उत्तराधिकारी लवणप्रसाद था। जिस समय भीम द्वितीय उत्तरमें अपनी सत्ता जमानेमें व्यस्त था, उसी समय इसने घोलका और उसके आसपासके देशोंपर अधिकार जमा लिया था।

१-सडिजै०, पृ० १२-१३।

लवणप्रसादके बाद उसका पुत्र वीरधवल गुजरातका राजा हुआ और इसने सन १२३३ से १२३८ तक राज्य किया। इसके मंत्री और सेनापति प्रसिद्ध जैन श्रेष्ठी वस्तुपाल महान (Vastupal the great) और उनके भाई तेजपाल थे। वीरधवलके उपरान्त क्रमशः विशालदेव, अर्जुनदेव, सारंगदेव और कर्णदेव नामक राजा सन १३०४ तक इस वंशमें हुये और इनके बाद फिर मुसलमानोंका अधिकार गुजरातपर होगया। बाघेलवंशके राजाओंकी सहानुभूति जैन धर्ममें थी।[१]

वस्तुपाल और तेजपाल।

वस्तुपाल और तेजपाल युगलिया भाई भाई थे। उनका जन्म प्राग्वाट जातिय असराजकी पत्नी कुमारदेवीकी कोखसे सन १२०५ में हुआ था। असराज कुमारदेवीके दूसरे पति थे। कुमारदेवी अन्हिलपट्टनकी प्रसिद्ध सुन्दर और युवती विधवा थीं। एक दफे हरिभद्रसूरिका व्याख्यान सुनने वह गई थीं। वहीं असराज उनके रूपपर मुग्ध होगया और उनको बलात्कार ले भागा। आखिर कुमारदेवीने भी इसको अपना पति स्वीकार कर लिया। असराजके इनसे कई संतानें हुईं। वस्तुपाल और तेजपालके विवाह भी कुमारदेवीके सामने ही होगये थे। वस्तुपालकी पत्नी ललितादेवी मोढ़ जातिकी थी, और तेजपालकी पत्नी अनुपमा अपने गुणोंके लिये प्रसिद्ध थीं। वस्तुपाल और तेजपालका परिचय वाघेल राजा वीरधवलसे होगया। राजाने इनके गुणोंपर मुग्ध होकर इन्हें अपना मंत्री और सेनापति नियत कर लिया। वस्तुपालके मंत्रित्वकालमें धोलकाके

१–बंप्राजैस्मा०, पृ० २११–२१२।

राजा और प्रजा दोनों ही संतुष्ट और सुखी थे। एक प्रत्यक्ष दर्शकने लिखा है कि 'वस्तुपालके राजप्रबन्धमें नीच मनुष्योंने घृणित उपायों द्वारा धनोपार्जन करना छोड़ दिया। बदमाश उसके सम्मुख पीले पड़ जाते थे और भले मानस खूब फलते फूलते थे। सब ही अपने कार्योंको बड़ी नेकनीयती और ईमानदारीसे करते थे। वस्तुपालने लुटेरोंका अन्त कर दिया और दूधकी दुकानोंके लिये चबूतरे बनवा दिये। पुरानी इमारतोंका उनने जीर्णोद्धार कराया, पेड़ जमवाये, कुये खुदवाये, बगीचे लगवाये और नगरको फिरसे बनवाया। सब ही ज्ञातिपांतिके लोगोंके साथ उसने समानताका व्यवहार किया।'[1] यद्यपि वह स्वयं जैन धर्मानुयायी थे; किन्तु उन्होंने मुसलमानोंके लिये मसजिदें भी बनवाई थीं।

एक दफे दिल्लीके सुल्तानकी मुल्ला मक्काकी जयारतको जाते हुये धोलकासे निकला। वीरधवलकी इच्छा थी कि उसे गिरफ्तार कर लिया जाय, किन्तु वस्तुपाल राजासे सहमत नहीं हुए। उन्होंने मुल्लाकी अच्छी आवभगत की। फल इसका यह हुआ कि दिल्लीके सुल्तान और राजा वीरधवलके बीच मैत्रीभाव बढ़ गया और दोनोंमें संधि होगई। वस्तुपालका आदर भी सुल्तानकी दृष्टिमें बढ़ गया। वस्तुपाल और तेजपाल केवल चतुर राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, वे वीर सेनापति और सच्चे धर्मात्मा भी थे। इन्होंने अपने राजाके लिये कई लड़ाइयां लड़ी थीं। केम्बेके सैदको उनने परास्त किया था। दिल्लीके मुहम्मद गोरी सुलतान मुइज्जुद्दीन बहरामशाहपर इन्होंने विजय पाई थी और गोधाके सरदार घुघुलको उनने हतसाहस किया

१—बम्बई गेजेटियर, २-१-१९९।

था। उनके इन वीरोचित कार्योंका बखान कई कवियों और भाटोंने किया है। जैनधर्मके लिये भी इन दोनों भाइयोंने जीतोड़ परिश्रम किया था। सन् १२२० में शत्रुंजय और गिरनारजीके लिये संघ निकाल कर उनने 'संघपति' की पदवी प्राप्त की थी। कहते हैं कि इस संघमें इक्कीस हजार श्वेतांबर जैन और तीनसौ दिगम्बर जैनी सम्मिलित थे।[1]

सन् १२२८ में जगचंन्द्र नामक एक श्वेताम्बराचार्यने तपागच्छकी स्थापनाकी थी। वस्तुपालने इस

आबूके जैनमंदिर। गच्छकी उन्नतिमें बड़ी सहायता की। इन दोनों भाइयोंने मंदिर, पौषधशालायें, उपाश्रय आदि बनवाये थे। आबूपर्वत पर उन्होंने बड़ा बढ़िया मंदिर बनवाया था; जिसको सोभनदेव नामक प्रसिद्ध कारीगरने बनाया था। यह मंदिर विमलशाहके मंदिरके सन्निकट है और सन १२३० में बनकर तैयार हुआ था। यह अपने भास्कर कार्य्यके लिये भुवनविख्यात और अद्वितीय है।[2] वस्तुपालने गिरनार और शत्रुंजय पर भी जैनमंदिर बनवाये थे।

वस्तुपाल एक अच्छे कवि भी थे। उनका उपनाम 'वसन्तपाल' था। उनकी रचनाओंकी प्रशंसा उस समय

वस्तुपालका अंतिम जीवन। के अच्छे२ कवियोंने कीथी। 'नरनारायणानन्द' उनकी उत्तम रचना है। वस्तुपालके निकट अन्य कवियोंने भी आश्रय पाया था।

१–सडिजै०, पृ० ४७–५०। २–हिस्ट्री ऑफ इन्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर भा० २ पृ०३६।

सन् १२३८ ई० में राजा वीरधवलकी मृत्यु होगई। उस घटनासे राज्य भरमें हाहाकार मच गया। अनेक प्रजाजन राजाके साथ ही अपनी जीवनलीला समाप्त करनेको तत्पर हो गये: किन्तु तेजपालके प्रबन्धसे उनकी रक्षा हुई। वीर धवलके बाद राज्याधिकार पानेके लिये उसके वीरम और वीसल नामक दोनों पुत्रोंमें झगड़ा हुआ। वस्तुपालने वीसलका पक्ष लिया और वही राजा हुआ। वीरम जालोर अपने स्वसुरके पास भाग गया; जहां वह धोखेसे मारा गया था। वीसलदेवके राज्यकालमें ही दोनों भाइयोंकी अवनति हुई। कहते हैं कि वीसलके चाचा सिंहने एक जैनसाधुका अपमान किया था। वस्तुपाल इस धर्म विद्रोहको सहन न कर सके। उन्होंने सिंहकी उंगली कटवाली; वीसलदेवने वस्तुपालके इस दुस्साहसका पुरस्कार प्राणदण्ड दिया। किन्तु इस समय कविवर सोमेश्वरने बीचमें पड़ कर वस्तुपालकी रक्षा की थी। इस घटनाके कुछ दिनों ही बाद वस्तु-पालका स्वास्थ्य खराब हुआ और वह शत्रुंजयकी यात्राको जाते हुए अंकेवलिय ग्राममें स्वर्ग लोकके वासी हुये। तेजपालके पुत्रोंने इस स्थानपर एक भव्य मंदिर बनवा दिया था। यह सन् १२४२की बात है और इसके करीब १० वर्ष बाद तेजपाल भी अपने भाईके साथी बने।[१] वस्तुपालको उस समय लोग राजनीति गुरु कौटिल्यसे कम नहीं मानते थे।[२]

उपरोक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि गुजरातमें जैनधर्मकी प्रधा-नता प्राचीनकालसे रही है। तथापि सोलंकी राजाओंके राज्यकालमें

१-सडिजै०, पृ० ९१-९९। २-इंहिको०, भा० १ पृ० ७८६।

श्वेताम्बर जैनधर्मका अभ्युदय। उसका अभ्युदय विशेष हुआ था। श्वेतांबर जैनाचार्योंने इस समय जैनधर्मको दिगन्तव्यापी बनानेमें कुछ उठा न रक्खा था। श्री हरिभद्र-सूरि, जिनेश्वरसूरि, हेमचन्द्र आदि प्रख्यात आचार्य थे। जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागर आचार्यने श्वेतांबर यतियोंका तीव्र विरोध किया था। उनके उद्योगसे खूब सुधार हुआ था तथा उन्होंने श्वेतांबर साहित्यको एक नवीन मार्गमें प्रवेश कराया था। श्वेताम्बर अर्वाचीन साहित्यके वे कर्ण[illegible] थे। पहिले श्वेतांबरोंका केवल आगम ग्रन्थ साहित्य था; परन्तु इ[illegible] द् ३-४ शताब्दियोंमें न्याय, व्याकरण, काव्य आदि विष-योंके [illegible] ग्रंथ लिखे गये थे। ई० १०-११ वीं शताब्दिमें गुजरात देशमें अधिकांशतः देवनागरी लिपिका प्रचार था। ईसवी पूर्वकी मागधिलिपिका विकास होने [illegible] नागरीलिपिने अपना रूप संभाल लिया था।[1] जैनोंद्वारा इस लिपिका बहु प्रचार हुआ और प्राचीन गुर्जर साहित्य भी उन्हींका ऋणी है। जैनोंके 'सप्तक्षेत्रीरास' 'गौतमरास' आदि ग्रंथ गुजरातीके प्राचीन साहित्यके नमूने हैं। इस प्राचीनकालमें जैनोंने गुजराती साहित्यकी अच्छी सेवा की थी।[2] जैनाचार्योंने बौद्धोंके न्यायग्रंथोंपर टिप्पण भी लिखे थे। किन्तु कुमारपालके उपरान्त गुजरातमें जैनोंका ह्रास होना शुरू हो गया। अजयपालके विद्रोहसे उसका सूत्रपात हुआ सही; किन्तु मुसलमा-नोंके आक्रमणसे उसका सत्यानाश हुआ। हजारों जैनमंदिर मसजिद बना लिये गये। जैनलोग अपनी प्राणरक्षामें धर्म प्रभावनाके कार्योंको

१–जैहि०, भा० १३ पृ० ४१७। २–गुसापरि०, पृ० ७२। ३–पूर्व०, पृ० १४।

सुचारु रीतिसे न चला सके। कुंभ आदि स्थानोंके जैनमंदिरोंको नष्ट करके मुसल्मानोंने उनका मनमाने ढंगसे उपयोग किया। यही कारण है कि जैनशिल्पका प्रभाव मुसल्मानी शिल्पपर पड़ा हुआ मिलता है।[1] इस कालमें जैनोंका सम्पर्क हिन्दुओंसे विशेष हो चला था, इस कारण उनके रीतिरिवाजोंका प्रभाव भी उन पर पड़ने लगा था।[2]

दिगम्बर जैनधर्मका उत्कर्ष।

गुजरातमें दिगम्बर जैन धर्मका अस्तित्व तो स्वयं भगवान महावीरके समयसे था। मौर्यकालमें भी वह यहां पर विद्यमान था। गिरनारकी प्राचीन गुफायें इसी बातकी द्योतक हैं। उपरान्त शक और क्षत्रपराजाओंके समयमें भी दिगम्बर जैनधर्म यहां प्रधान रहा था। नहपान, रुद्रसिंह आदि क्षत्रपराजा इसी धर्मके अनुयायी थे।[3] राष्ट्रकूट और चालुक्य राज्य कालमें भी दिगम्बर जैनोंकी महत्ता गुजरातमें कम नहीं हुई थी। ईडर और सूरत दिगम्बर जैनधर्मके मुख्य केन्द्र स्थान थे। अंकलेश्वर दिगम्बर जैनोंका पवित्र तीर्थ स्थान है, जहां जिनवाणी सर्व प्रथम लिपिबद्ध हुई थी। चालुक्य सिद्धराज जयसिंहके दरबारमें दिगम्बर और श्वेताम्बरोंका वाद होना, इस बातका द्योतक है कि तब तक दिगम्बर जैनोंका महत्व यहां अवश्य ही इतना काफी था कि वह राजाका ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित कर सके थे। किन्तु वादके लिये कर्णाटक देशसे एक दिगम्बराचार्यको बुलाना प्रगट करता

१-वीर वर्ष ५ पृ० ३०१। २-हिवि० भा० २ पृ० ५९२। ३-जैहि० भा० ६ अंक ११-१२ पृ० २०।

है कि वहां दिगम्बर जैनोंमें दिग्गज विद्वानोंका प्रायः अभाव था। 'नेमिनिर्वाण काव्य' और 'वाग्भट्टालंकार' के कर्ता सोमश्रेष्ठीके पुत्र वाग्भट्ट नो महाराज जयसिंहके प्रधान मंत्रियोंमेंसे थे।[१] भक्तामर कथा'में वर्णित राजा प्रजापाल यही जयसिंह प्रतीत होते हैं। तथा इस कथामें राजा कुमारपाल और उसके मंत्री आम्बड़का भी उल्लेख है।[१]

इन कथाओंसे तत्कालीन जैनधर्मका महत्व प्रगट होता है। अंकलेश्वरके राजा जयसेन मुनि गुणभूषणको आहारदान देकर पुण्य संचय करते थे।[२] दिगम्बर जैनमुनि देशभरमें विचरते हुये जैन-धर्मका उद्योत करते थे। गुजरातके देवपुर नामक नगरमें एक मुनि जीवनन्दी संघ सहित पहुंचे थे; वहां जैनोंका नामनिशान नहीं था। वह शैवमंदिरमें गये और लोगोंको उपदेश देकर जैनी बना लिया और इस प्रकार सब संघको आहारदान पानेकी सुविधा कर दी।[३] इस घटनासे तब तक जैनधर्मके उत्कर्षका पता चलता है; किन्तु उपरान्त कालमें जैनधर्मकी यह उपासना लोगोंने भुलादी। इस प्रकार गुजरातमें दिगम्बर जैनधर्म क[illegible] भी प्रभावशाली रहा है। उसका प्रभाव मान्य [illegible] श्वेताम्बरों पर भी पड़ा था; यही कारण है कि संवत ७०५ में श्रीकलश नामक एक श्वेताम्बराचार्यने कल्याण नामक स्थान पर यापनीय संघकी स्थापना की थी; जिसमें मुनियोंको नग्न रहना दिगम्बरोंकी भांति आवश्यक ठहराया था। स्त्री मुक्ति आदि मान्यतायें इस संघमें श्वेताम्बरोंके समान थीं×।

१–जैप्रा० पृ० २४०। २-भक्तामर कथा, काव्य २९।
३–जैप्रा० पृ० २४०। × जहि० भा० १३ पृ० २५०।

(७)

उत्तरी भारतके अन्य राज व जैनधर्म।

राजपूत और जैनधर्म।

हर्षके बाद उत्तर भारतमें कोई ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं था जो उसके विस्तृत साम्राज्यका समुचित प्रबन्ध करता। इसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य छिन्नभिन्न हो गया और अनेक छोटे २ राज्य बन गये। इनमेंसे अधिकांश राजपूतोंके अधिकारमें थे। 'राजपूत' शब्द राजपुत्रका अपभ्रंश है और यह राज्य सत्ताधिकारी क्षत्रियोंका द्योतक है। कहा जाता है कि संभवतः राजपूत विशुद्ध आर्य्य क्षत्रियोंकी संतान नहीं हैं। 'जैसे अन्य जातियां मिश्रित हैं, उसी प्रकार राजपूत जाति भी अनेक जातियोंके मिश्रणसे बनी है।' इन्हीं लोगोंकी प्रधानता उत्तर भारतमें मुसल्मानोंके आक्रमण तक रही थी।[१] इन लोगोंने जैन-धर्मको भी अपनाया था। जैनोंके एक प्राचीन गुटकेमें इन चौहान, पड़िहार आदि राजपूत क्षत्रियोंको जैनधर्मभुक्त और उनके कुलदेवता चक्रेश्वरी, अम्बा आदि शासन देवियां प्रगट की हैं।[२]

कन्नौजके राजा भोज परिहार।

गुप्त राजाओंके समयमें कन्नौज बड़ी उन्नत दशामें था। 'नवीं शताब्दिमें फिर यहांका राज्य उत्तरीभारतके राज्योंमें सर्व प्रधान हो गया। इस समय भोज परिहार (८४०–९०० ई०) वहांका राजा था।[३] इससे पहले सन् ७१२ में

१–भाई०, पृ० १०६। २–वीर०, वर्ष ३ पृ० ४७२। ३–भाई०, पृ० १०८–१०९।

अरबके मुसल्मानोंने भारत पर हमला करके सिन्ध प्रांतको जीत लिया था। वहांका हिन्दूराजा और रानी रणक्षेत्रमें वीरगतिको प्राप्त हुये थे। किन्तु मुसल्मानोंके इस हमलेका अधिक प्रभाव भारतपर नहीं पडा था; बल्कि मुसल्मानोंने भारतीय सभ्यतासे बहुत कुछ—ज्योतिष और वैद्यक आदि सीखा था। भोज परिहार समस्त उत्तरी भारतमें—पश्चिममें जूनागढ़ तक और पूर्वमें हज़ारीबाग तक राज्य करते थे; परंतु उनके बाद उनके उत्तराधिकारी इस राज्यको संभाल न सके। तथापि महमूद ग़ज़नवीका साथ देने आदि कारणोंसे यह अपना महत्व खो बैठे।[१] श्री बप्पभट्टि नामक जैनाचार्यने संभवतः इसी राजा भोजके दरबारमें आदर प्राप्त किया था। इन आचार्यने राजपूतानेसे लेकर बङ्गाल तक विचरण करके जैन धर्मका प्रचार किया था। और राजाओंको जैनधर्मका भक्त बनाया था। नेपालके राजाओंको भी संभवतः उन्होंने ही जैनधर्मप्रेमी बनाया था।[२] भोजके पूर्वज वत्सराज प्रतिहारका भी जैनधर्मके प्रति सद्भाव था। उन्होंने सन् ७८४ ई० में ओसिया ग्राममें एक जैनमंदिर बनवाया था।x किन्तु प्रतिहार (परिहार) वंशके बाद सन् १०९० ई० के लगभग गहरवार (राठौर) राजपूतोंका अधिकार कन्नौज पर हो गया था। इसी वंशमें राजा जयचन्द्र हुआ था, जिसे महम्मदगोरीने लड़ाईमें हराया था।

आजकलके संयुक्त प्रान्तमें भी उस समय कई राज्य थे और

१–भाइ०, पृ० १०८–१०९। २–दिगम्बर जैन, वर्ष २३ पृ० ८९। x–एनुअल रिपोर्ट ऑफ आर्कि० सर्वे इंडिया, १९०६–७ पृ० २०९।

विविध राजवंशोंमें जैनधर्म।

उनमेंसे कई एक जैनधर्मानुयायी थे। श्रावस्ती, मथुरा, अमाईखेड़ा, देवगढ़ आदि स्थान जैनधर्मके मुख्य केन्द्र थे। राजा कीर्तिवर्माके मंत्री वत्सराजका एक जैनलेख सन् १००७ का राजघाटीके पाससे मिला है।[1] ११ वीं शताब्दिमें श्रावस्तीमें जैनधर्म बहुत उन्नति पर था। वहां पर जैन धर्मानुयायी राजवंश एक दीर्घकालसे राज्य कर रहा था। इस वंशका सर्व अंतिम राजा सुहृदध्वज नामक था। हाथिली नामक ग्राममें उसने सैयद सालारको लड़ाईमें तलवारके घाट उतरा था। सुहृदध्वजकी इस विजयसे करीब ४० वर्ष पीछे इस जैनवंशका अन्त हुआ था। कहते हैं कि एक दफे राजा ग्रामान्तरसे लौट नहीं पाया कि सूर्यास्त हो चला। रात्रि भोजन निषिद्ध जानकर रानी बड़ी छटपटाई परंतु परम शीलवती राजाके छोटे भाईकी पत्नीके शीलप्रभावसे सूर्यास्त होने २ बच गया और राजाने सानन्द भोजन किया। किन्तु बादमें राजाकी नियत अपने छोटे भाईकी इस साध्वी स्त्री पर टल गई और उसीके शापसे इस वंशका अन्त हुआ था।[2] श्रावस्तीके अतिरिक्त अयोध्याके राजा महीपाल और सगरपुरके राजा सागर भी जैन धर्मानुयायी थे।[3] ईसवी ग्यारहवीं शताब्दिमें फैजाबादमें श्रीवास्तव नामक वंशका राज्य था। इस वंशका मुख्य राजा त्रिलोकचंद जैनधर्मानुयायी था: जिसका युद्ध मुहम्मद गजनवीके सिपहसालारसे हुआ था।[4] बनारसके राजा भीमसेन भी जैनी थे।

१-संप्राजैस्मा०, पृ० ९१। २-सप्राजैस्मा०, पृ० ६९। ३-जैग०, पृ० २४०। ४-सप्राजैस्मा०, पृ० ७०।

वह अन्तमें पिहिताश्रव नामक जैनमुनि हुये थे।[1] सं० १२७८में बनारसके राजासे श्वेताम्बर जैनाचार्य अभयदेवसूरिने 'वादीसिंह'का विरुद प्राप्त किया था।[2] इसी समयके लगभग मथुरामें रणकेतु नामक राजा जैनधर्मानुयायी था। वह अपने भाई गुणवर्मा सहित नित्य जिनेन्द्रपूजन किया करता था। अन्तमें गुणवर्मको राज्य देकर वह जैनमुनि हो गया था।[3] वर्मान्त नामवाले राजाओंका राज्य मन्दसोर (ग्वालियर) और गंगधारमें गुप्तकालसे था।[4] इनमेंसे एक नरवर्मा राजाका उल्लेख जैनोंकी द्वादशांव्रत कथामें भी है।[5] संभवतः इसी वंशका अधिकार उपरांत मथुरामें हो गया होगा और गुणवर्मा इन्हींका वंशज हो सकता है। मथुरामें १२-१३ वीं शताब्दिकी जैनमूर्तियां मिली हैं। उनसे भी तब तक वहां पर जैनधर्मका प्राबल्य प्रगट होता है।

सूरीपुर (जिला आगरा) का राजा जितशत्रु भी जैनी था, जो बड़े २ विद्वानोंका आदर करता था। अन्तमें वह जैनमुनि हो गया था। और शांतिकीर्तिके नामसे प्रसिद्ध हुआ था।[6] जमनाके किनारे पर स्थित अमाईखेड़ा ग्राममें ग्यारवीं शताब्दि तककी जैन प्रतिमायें अगणित मिलती हैं। जिला इटावा और आगरेके निकटवर्ती ग्रामोंमें जैनध्वंशविशेषोंका मिलना, वहां पर जैनोंकी प्रधानताका द्योतक है। सचमुच भदावर प्रान्तमें हस्तिकांननगर जैनोंका मुख्य केन्द्र था। यहां विक्रमकी ११ वीं शताब्दिसे १६ वीं शता-

---

१-जैप्रा० पृ० २९२। २-हिजबा०, पृ० ७। ३-जैप्र०, पृ० २४२। ४-राइ०, पृ० १२५-१२६। ५-मप्रा०, पृ० १५८। ६-जैप्र०, पृ० २४१।

दि तक जैनोंका प्राबल्य अधिक था । यहांके निवासियोंने ५२ जिनप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराई थी । सं० ११६८ में यहां पर चौहान राजा उदयराजदेवका राज्य था ।[1] अहिच्छत्र (बरेली) का प्रसिद्ध राजा मयूरध्वज भी जैनी था । संभव है कि इस राजाका सम्बन्ध श्रावस्तीके ध्वज नामान्तक राजाओंके जैनवंशसे है । इस देशमें जैनधर्म उन्नति पर था । अहिच्छत्र ई० सन् १००४ तक बसा हुआ था ।[2]

ग्वालियरके राजा और जैनधर्म ।

कहते हैं कि सन् २७५ ई० में ग्वालियरकी स्थापना राजा सूर्यसेन द्वारा हुई थी । भोजदेव परिहार (८८२ ई०) के कनिष्ठ पौत्र विनायकपालके बाद कच्छवाहा वंशी वज्रदामा ग्वालियरपर अधिकार करके नवराज वंशके प्रतिष्ठाता हुए थे । यहां एक जैनमूर्तिके पवित्र अङ्गमें उत्कीर्ण वज्रदामाकी शिलालिपिमें प्रगट है कि वह लक्ष्मणके पुत्र थे और उन्होंने ही पहले गोपगिरी दुर्गमें जयढक्का बजाया था । सास बहूके दिगम्बर जैन मंदिरमें सं० ११५० व ११६० के उत्कीर्ण इस वंशके राजा महीपालके दो शिलालेखोंमे जाना जाता है कि वज्रदामाके पुत्र मङ्गल थे और उनके वंशज क्रमशः कीर्तिपाल, भुवनपाल, देवपाल, पद्मपाल, सूर्यपाल, और महीपाल थे । इन सबने ग्वालियरमें राज्य किया । उपरांत मधसूदन कच्छावाहाके हाथसे ग्वालियर निकलकर परिहार वंशी क्षत्रियोंके अधिकारमें पहुंच गया था । राजा कीर्तिसिंहके समयमें ग्वालियरमें खूब शिल्पकार्य हुआ था । जैन शिल्प

१-प्राजैकेसं०, भा० १ पृ० ९९ । २-संप्राजैस्मा०, पृ० ८१ ।

अपने नैपुण्यके लिये प्रसिद्ध है। इस समय ग्वालियरमें जैनोंकी विशेष उन्नति हुई थी।[1] दि० जैन विद्वानोंकी मान्यता भी यहां खूब थी। वि० सं० १०१३ में माधवके पुत्र महेन्द्रचंद्रने ग्वालियरके निकट सुहनिया नामक स्थानपर एक जैन मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई थी। महेन्द्रचन्द्र संभवतः ग्वालियरका एक राजा था। (जर्नल आव ए० सो० बंगाल, भा० ३१ पृ० ३९९) सुहनिया उस समय जैनोंका केन्द्र था।

मध्य भारतमें जैनधर्म।

मध्यभागतके बुन्देलखण्ड प्रांतमें चन्देल राजपूतोंका राज्य था। आठवीं शताब्दिमें यह देश जेजाकभुक्ति कहलाता था। चंदेलवंशका मूल पुरुष नंनुक चन्देला था; जिसने एक परिहार सरदारको पराजित करके बुन्देलखण्डमें अपना अधिकार जमाया था। चन्देलोंकी राजधानी महोबा थी।[2] चंदेरी (ग्वालियर) में भी चन्देलराजाओंने सन् ९००से ११८४ तक राज्य किया था। चन्देरीको चन्देलोंने ही बसाया था। पहाड़ी पर राजमहल है; जिसके सन्निकट अनेक जैनमूर्तियां मिलती हैं।[3] महोबाके आसपास भी जैनमूर्तियोंकी बाहुल्यता है और वह चन्देल राजा परमाल द्वारा प्रतिष्ठित बताई जाती हैं। इन बातोंसे चन्देलवंशमें जैनधर्मकी मान्यता प्रगट होती है। सन् १००० ई०में यह राज्य उन्नतिके शिखर पर था। इस वंशमें सबसे प्रसिद्ध राजा धङ्ग (९५०-९९) और कीर्तिवर्मा (१०४९-११०० ई०) हुये थे। राजा धङ्गके राजत्वकालमें

१-हिवि०, भा० ९ पृ० ७४१। २-भाइ०, पृ० ११०। ३-मप्राजैस्मा०, पृ० ६३।

जैनधर्म उन्नति पर था। खुजराहोमें इन्हीं राजासे आदर प्राप्त सूर्यवंशी पाहिलने सन् ९५४ में जिननाथके मंदिरको अनेक उद्यान दान किये थे।[1] सं० १२१५ को गृहपतिकुलके पाहिल्के पुत्र दंडने एक जैन-बिम्बकी प्रतिष्ठा कराई थी।[2] घटाईका प्रसिद्ध मंदिर भी इसी समयका बना हुआ है। यहांके नं० २५ वाले मंदिरमें राजपुत्र श्री जयसिंहका उल्लेख है।[3] ऐसे ही अन्य लोगोंने भी अनेक जैनमंदिर बनवाये थे। सन् १२०३में चन्देलोंको मुसलमानोंने जीत लिया था।

राजा ईल और जैनधर्मका अभ्युदय।

दसवीं शताब्दिके लगभग बराड़ प्रान्तमें ईल नामक राजा प्रसिद्ध हो गया है। यह जैनी था। इसने सन् १०००में अपने नामसे ईलिचपुर (ईलेशपुर) नगर बसाया था। मुसलमानोंके हाथों वह मारागया था।[4] 'भक्तामरकथा' (का०२०) से प्रगट है कि नागपुरमें भी लगभग इसी समय नाभिराज नामक एक जैनधर्मानुयायी राजा था।[5] और 'प्रभावक चरित्र' से प्रगट है कि सं० ११७४ में नागपुरका राजा आल्हादन नामका था, जो जैनाचार्य मुनिचन्द्रका शिष्य था।* किन्तु बराड़ प्रान्तमें विक्रमकी आठवीं शताब्दिसे दसवीं शताब्दि तक क्रमशः चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओंका राज्य रहा था। ये दोनोंही राजवंश जैनधर्मके पोषक थे: इस कारण उक्तकालमें जैनधर्मका यहां खूब प्रचार रहा था।[6]

१–मप्राजैस्मा०, पृ० ११६–११७। २–हिवि०, भा० ९ पृ० ६८०। ३–संप्राजैस्मा०, पृ० ४३। ४–मप्राजैस्मा०, पृ० १४ भूमिका। ५–जैप्र०, पृ० २४०। *–हिजैवा० पृ० ४२। ६–मप्राजैस्मा०, पृ० १४ भूमिका।

मध्यप्रान्तका सबसे बड़ा राजवंश कलचूरियोंका था; जिनका प्रावल्य ८ वीं व ९ वीं शताब्दिमें खूब रहा

मध्यप्रांतमें जैनधर्म। था। एक समय कलचूरि राज्य बंगालसे गुजरात और बनारससे कर्णाटक तक फैला हुआ था और इस वंशके राजाओंका प्रेम जैन धर्मसे विशेष था। जैन धर्मानुयायी राष्ट्रकूटवंशी राजाओंके साथ इनके विवाह सम्बन्ध हुये थे। कलचूरियोंकी राजधानी त्रिपुरी और रतनपुर थे। इन स्थानोंमें अनेक जैन मूर्तियां और खंडहर मिलते हैं।[1] बड़गांव (जबलपुर) के जैन शिलालेखोंमें कलचूरी राजा कर्णदेवका उल्लेख है; जिनका युद्ध कीर्तिवर्मन चन्देलसे हुआ था।[2] रतनपुरसे प्राप्त एक जैन मूर्तिपर भी सं० ९०७ का कलचूरी वंशका लेख है। लखनादोनके किलेसे एक भग्न शिलालेख १० वीं शताब्दिका मिला है, जिससे प्रकट है कि विक्रमसेनने जैन तीर्थंकरकी भक्तिमें मंदिर बनवाया था।[3] कलचूरिवंशके बड़े प्रतापी नरेश विज्जल (विजयसिंहदेव सन् ११८०) के पक्के जैन धर्मानुयायी होनेके प्रमाण उपलब्ध हैं: किन्तु इसी राजाके समयमे कलचूरि राजदरबारमें जैनियोंका जोर घट गया और शैवधर्मका प्रावल्य बढ़ा था। जैनधर्म राजाश्रयविहीन क्षीण अवश्य होगया, पर उसका सर्वथा लोप न होसका। स्वयं कलचूरि वंशमें जैन धर्मका प्रभाव बना ही रहा। मध्यप्रान्तमें जो जैन कलवार सहस्रोंकी संख्यामें मिलते हैं: वे इन्हीं कलचूरियोंकी संतान हैं।[4]

१–पूर्व०, पृ० ८–१०। २–मप्राजैस्मा०, पृ० १६। ३–पूर्व० पृ० २३। ४–पूर्व० भूमिका पृ० ११–१२।

नवीं और दशवीं शताब्दिमें मध्यभारतमें भी जैनोंकी विशेष उन्नति और कीर्ति फैली हुई थी। धाराके

धाराका राजवंश और जैन धर्म। नरेशोंने जैन धर्मको खूब अपनाया था। यह परमारवंशके राजा थे। इस वंशकी नींव उपेन्द्र नामक सरदारने ९ वीं शताब्दिमें डाली थी। परमार राजाओं द्वारा संस्कृत साहित्यकी विशेष उन्नति हुई थी। इसी वंशमें सुप्रसिद्ध राजा भोज हुआ था। वह सन् १०१८ ई०में धारानगरीकी गद्दीपर बैठा था। धारा उस समय मालवाकी राजधानी थी, उसने बहुतसे राज्योंको जीता था। भोज बड़ा विद्याप्रेमी था, कहते हैं कि ज्योतिष शास्त्र, वास्तुविद्या, पद्यरचना आदि विषयोंपर उसने कई ग्रन्थ लिखे हैं। उसने धारामें एक विद्यापीठ स्थापित किया था और उसमें शिलाओंपर काव्य, व्याकरण तथा ज्योतिषके ग्रन्थ खुदवाकर रक्खे थे। इस विद्यापीठको तोड़कर पीछेसे मुसल्मानोंने मसजिद बनाई।[1] व्याकरणमें जैन ग्रन्थ 'कातन्त्र' के अनेक सूत्र धाराकी भोजशालामें सर्पबद्ध उकेरे हुये हैं।[2] भोज एक बड़ा आदर्श राजा था, उसने अनेक जैन और अजैन विद्वानोंका सम्मान किया था। वह सन् १०६० ई० तक राज्य करता रहा था। भोजके वंशज १३ वीं शताब्दि ई० तक मालवामें राज्य करते रहे; परन्तु अन्तमें मुसल्मानोंने उन्हें भी पराजित किया था।

मालवाके परमारोंमें मुंजनरेश भी एक पराक्रमी और विद्वान्

१-भाइ० पृ० १०९। २-अहिइं०, पृ० १६।

राजा मुंज और जैन विद्वान्।

राजा था। वह विद्वानोंका बहुत बड़ा आश्रयदाता था। उसके दरबारमें धनपाल, पद्मगुप्त, धनंजय, धनिक, हलायुध आदि अनेक विद्वान् थे।[१] मुंजनरेशसे जैनाचार्य महासेनसूरिने विशेष सम्मान पाया था। मुंजके उत्तराधिकारी सिंधुराजके एक महासामन्तके अनुरोधसे उनने 'प्रद्युम्नचरित' काव्यकी रचना की थी।[२] मुंजके दरबारी कवि धनपाल काश्यपगोत्री ब्राह्मण उज्जैनके निवासी थे। वह अच्छे विद्वान थे और जैनोंका उनसे विशेष समागम रहा था। धनपालका छोटा भाई जैन होगया था; परन्तु उन्हें जैनोंसे घृणा थी। इसी कारण वह जैनोंके केन्द्र उज्जैनको छोड़कर धारामें जारहे, वहां उन्होंने वि० सं० १०२९ में 'पाइलच्छी नाममाला' नामक प्राकृत कोष अपनी छोटी बहन सुन्दरीके लिए बनाया था। वह भी विदुषी थी और कविता करती थी। अन्ततः धनपाल अपने भाई शोभनके उपदेशसे कट्टर जैन हो गया था। उसने जीवहिंसा रोकनेके लिये राजा भोजको उपदेश दिया था। तथा जैन हो जाने पर 'तिलकमञ्जरी' की रचना की थी। 'ऋषभपञ्चाशिका' भी इसी कविकी बनाई हुई है'।[३] कवि धनञ्जयने 'दशरूपक' नामका ग्रंथ बनवाया था। श्री शुभचन्द्राचार्य भी राजा मुंजके समयमें हुये थे और यह राजपुत्र थे। इन्होंने 'ज्ञानार्णव' ग्रंथकी रचना की थी। कहते हैं कि कवि भर्तृहरि इन्हींके भाई थे।[४]

१–भाप्रारा०, भा० १ पृ० १००। २–मप्राजैस्मा० भूमिका पृ० २०। ३–भाप्रा०, भा० १ पृ० १०३–१०४। ४–मजैइ०, पृ० ९४–९९।

राजा मुंजके समयमें ही प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री अमितगतिजी हुये थे। यह माथुरसंघीय माधवसेनके शिष्य थे। कहते हैं कि वि० सं० १०२५ के कुछ पहिले इनका जन्म हुआ था।

अमितगति आचार्य।

'आचार्यवर्य अमितगति बड़े भारी विद्वान और कवि थे। इनकी असाधारण विद्वत्ताका परिचय पानेको इनके ग्रंथोंका मनन करना चाहिए। रचना सरल और सुखसाध्य होनेपर भी बड़ी गंभीर और मधुर है। संस्कृत भाषापर इनका अच्छा अधिकार था। इन्होंने अपने 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथको केवल दो महीनेमें लिखकर समाप्त किया था; जिसे पढ़कर लोग मुग्ध हो जाते हैं। सन् १०१३ ई० में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ था। इसके पहले सन् ९९३में आचार्यवर्यने 'सुभाषित रत्नसंदोह' नामक ग्रंथ रचा था। इनके अतिरिक्त उन्होंने (१) श्रावकाचार (२) भावनाद्वात्रिंशति. (३) पंचसंग्रह. (४) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति. (५) चन्द्र प्रज्ञप्ति. (६) सार्द्धद्वयद्वीप प्रज्ञप्ति. (७) व्याख्याप्रज्ञप्ति. (८) योगसार प्रभृति ग्रंथ रचे थे। 'पंचसंग्रह' नामक ग्रंथको आपने राजा भोजके पिता सिंधुराजके समयमें लिखा था। उसकी प्रशस्तिमें आचार्यवर्य अपनेको गौतम गणधरके समान लिखते हैं। उनके अद्वितीय ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेकी आवश्यक्ता है।'[1] श्री महाकवि सोमदेवसूरि इन आचार्यके समकालीन थे: जिन्होंने यशस्तिलकचम्पू, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रंथ रचे थे। अमितगतिजीके गुरु माधवसेनके सहपाठी प्रसिद्ध विद्वान आचार्य देवसेन थे; जिन्होंने

१–हिवि०, भा० २ पृ० ६४

सं० ९९० में धारानगरके पार्श्वनाथ चैत्यालयमें 'दर्शनसार' ग्रंथकी रचना की थी।*

राजा भोज और जैनधर्म।

राजा भोजका युद्ध गुजरातके चालुक्य राजा भीमसे हुआ था; परन्तु अन्तमें इन दोनोंके बीच सन्धि हो गई थी। राजा भोजके जैन सेनापति कुलचन्द्रने अनहिलवाड़ामें भीमको हरा दिया था।[1] राजा भोजके दरबारमें जैनोंका सम्मान विशेष था; यद्यपि वह स्वयं शैव था। 'वह जैनों और हिन्दुओंके शास्त्रार्थका बड़ा अनुरागी था।' श्रवणबेलगोलसे प्राप्त संभवतः सन् १११५ ई०के लेखसे प्रगट है कि भोजने प्रभाचन्द्र जैनाचार्यके पैर पूजे थे। दूबकुण्डवाले शिलालेखसे प्रगट है कि 'भोजके सामने सभामें शान्तिसेन नामक जैनने सैकड़ों विद्वानोंको हराया था। क्योंकि उन्होंने उसके पहले अम्बरसेन आदि जैन विद्वानोंका सामना किया था।' भोजकी सभामें कालिदास, वररुचि, सुबन्धु, बाण, अमर, रामदेव, हरिवंश, शङ्कर, कलिङ्ग, कर्पूर, विनायक, मदन, राजशेखर, माघ, धनपाल, सीता, मानतुङ्ग, आदि विद्वानोंका होना बताया जाता है।

धनपाल जैन थे, यह पहले लिखा जाचुका है। शोभनके जैन होनेपर भोजने कुछ समयतक जैनोंका धारामें आना बंद कर दिया था। कालिदास कवि मेघदूत आदि ग्रंथोंके रचयिता कालिदाससे भिन्न थे।[2] इनकी स्पर्द्धा जैनाचार्य मानतुङ्गजीसे विशेष थी। इनके उकसानेपर भोजने मानतुङ्गाचार्यको अड़तालीस कोठरियोंके भीतर

*–विर०, पृ० ११९। १–भाप्राए०, भा० १ पृ० ११९। २–भाप्राए०, भा० १ पृ० ११८–१२१।

बंधवाकर डलवा दिया था; परन्तु वह अपने आत्मबलसे बन्धनमुक्त होगये थे। इस कारावासकी दशामें श्री मुनि मानतुङ्गजीने प्रसिद्ध 'भक्तामरस्तोत्र' रचा था; जिसका छ्यालीसवां काव्य रचते२ ही उनके बन्धन अपने आप नष्ट होगये थे। उनके माहात्म्यसे प्रभावित हो, कहते हैं कि राजा भोज और कवि कालिदास भी जैन धर्मानुयायी होगये थे।[1] जैन कवि धनंजय भी राजा भोजके समकालीन बताये जाते हैं। इन्होंने अपने पुत्रको सर्पदंशके विषमे मुक्त करनेके लिये 'विषापहार स्तोत्र' की रचना की थी। इनके अन्य ग्रन्थ नाममाला, द्विसंधानकाव्य, विषापहारस्तोत्र, वंगकनिघंटु आदि हैं।[2] ब्रह्मदेवके अनुसार 'द्रव्यसंग्रह' के कर्ता श्री नेमिचंद्राचार्य श्री भोजदेवके दरबारमें थे। नयनंदि नामक जैनाचार्यने अपना 'सुदर्शन चरित्र' इन्हींके राजत्वकालमें समाप्त किया था।

भोजने चालीस वर्षतक राज्य किया था और उसके बाद संभवतः उसका पुत्र जयसिंह गद्दीपर बैठा था। इसके समयमें राजा भोजके साम्राज्यपर विपत्तिके बादल छागये थे, जिनको इसके उत्तराधिकारी उदयादित्यने दूर किया था।

दूबकुंडके कच्छवाहे व जैनश्रेष्ठी दाहड़।

राजा भोजका समकालीन कच्छपघात (कच्छवाहा) वंशी राजा अभिमन्यु था; और उसकी प्रशंसा स्वयं भोजदेवने की थी। यह राजा चड़ोभनगर (दूबकुंड़—शिवपुर) से राज्य करता था। इसके नाती विक्रमसिंहका एक शिलालेख संवत् ११४५

१–भक्तामर कथा–जैप्र० पृ० २३९। २–मजैइ० पृ० ९६। ३–मप्राजैस्मा०, भूमिका पृ० २०। ४–भाइं०, पृ० ३१७।

का दूबकुंड़के जैनमंदिरमे मिला है: जिसमें वहांके जैनश्रेष्टी दाहड़ द्वारा निर्मित जैनमंदिरको महाराज विक्रमसिंहने जो दान दिया था, उसका उल्लेख है। दाहड़ जायसपुरसे आये हुये वणिक जासूकके वंशमें था। उसके बड़े भाई ऋषिको विक्रमसिंहने श्रेष्टीपद प्रदान किया था। दाहड़ने श्री लाटबागटगणके जैनाचार्य विजयकीर्तिके उपदेशसे भव्य जैनमंदिर बनवाया था। यह कच्छप राजा परमारोंके सामन्त प्रतीत होते हैं।[1]

राजा नरवर्माके समयमें जैन धर्म।

मालवाके परमारोंमें नरवर्मा भी प्रसिद्ध राजा था। गुजरातके राजा जयसिंहसे उसका युद्ध हुआ था: जिसमें उसे पराजित होना पड़ा था। नरवर्मा विद्वान था, सन् ११०४ की नागपुरवाली प्रशस्ति उसीकी रचना है। उदयादित्यके निर्माण किये हुये वर्णों तथा नामों एवं धातुओंके प्रत्ययोंके नागबंध चित्र उसने 'उन' गांव (इन्दौर) में खुदवाये थे।[2] ये वहांके जैन मंदिरमें अब भी मौजूद हैं। यह मंदिर पहले विद्यालय थे। विद्या और दानमें नरवर्माकी तुलना भोजसे की जाती थी। उसके समयमें भी मालवा विद्यापीठ समझा जाता था और जैन तथा वैदिक मतावलंबियोंके बीच शास्त्रार्थ भी हुये थे। महाकालके मंदिरमें जैनाचार्य रत्नसूरि और शैव विद्याशिववादीका परस्पर एक बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ था। जैनाचार्य समुद्रघोष भी नरवर्माकी सभामें मौजूद थे और उसकी विद्वत्तापर नरवर्म बड़े प्रसन्न थे। अभयदेवसूरिके 'जयन्तकाव्य' की

१–मप्राजैस्मा० पृ० ७३–७६। २–भाप्रारा० भा० ३ पृ० १९९। ३–मप्राजैस्मा० पृ० ९२।

प्रशस्तिमें नरवर्माका जैन वल्लभसूरिके चरणोंपर सिर झुकाना लिखा है। नरवर्माके पुत्र यशोवर्माने अपनी ओरसे जैनधर्मावलम्बी मंत्री जैनचंद्रको गुजरातका हाकिम नियत किया था।[1] परमार राजाओंका सम्पर्क गुजरातसे होनेका ही यह परिणाम प्रतीत होता है कि श्वेतांबर जैनाचार्य भी मालवाकी ओर आगये थे और उन्होंने राजदरबारमें मान्यता प्राप्त की थी।

इसी वंशका विन्ध्यवर्मा नामक राजा भी विद्याका बड़ा अनुरागी था. उसके मंत्रीका नाम बिल्हण था।

कविवर आशाधर। कविवर आशाधरकी मित्रता इनसे अधिक थी। आशाधर एक प्रसिद्ध जैन पण्डित होगये हैं। ई० सन् ११९२ में दिल्लीका चौहान राजा पृथ्वीराज शाहाबुद्दीन गोरीसे हार गया था; इस कारण उत्तरी भारतमें मुसलमानोंका आतंक छा गया था। अनेक हिंदू विद्वानोंको अपना देश छोड़ना पड़ा था। कविवर आशाधर भी ऐसे विद्वानोंमेंसे एक थे। मूलमें आशाधर सपादलक्ष देशके मंडलकर (मांडलगढ़—मेवाड़) नामक ग्रामके निवासी थे। तब यह देश चौहानोंके अजमेर राज्यके अंतर्गत था। आशाधरजीका जन्म वि० सं० १२३५ के लगभग बघेरवाल जैन श्रेष्ठी सल्लक्षणकी भार्या रत्नीकी कोखसे हुआ था। मुसलमानोंके आतंकसे बचनेके लिये आशाधर सपरिवार धारानगरीमें जा बसे थे।[2] धारानगरीमें उन्होंने वादिराज पं० धरसेनके शिष्य पं० महावीरसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैन सिद्धांत

१–भाप्रारा० भा० १ पृ० १४४–१४५। २–भाप्रारा० भा० १ पृ० १५६।

पढ़े थे। आशाधरकी स्त्री सरस्वतीसे छाहड़ नामक पुत्र हुआ था; जिसने धाराके महाराजाधिराज अर्जुनदेवको अपने गुणोंसे मोहित कर लिया था। वह भी अपने पिताकी तरह बड़ा भारी विद्वान् था। विन्ध्यवर्माका विल्हण मंत्री आशाधरको कविराज कहा करता था। इनकी कविताका विद्वान बहुत आदर करते थे। यहांतक कि जैन मुनि उदयसेनने उन्हें 'कलि कालिदास' की उपाधि दी थी। मुनि मदनकीर्तिने उन्हें 'प्रज्ञाका पुंज' अर्थात् विद्याका भण्डार कहकर पुकारा था। कवि विल्हणने उन्हींकी मित्रतासे प्रेरित हो कर 'कर्ण-सुंदरी नाटिका' के मंगलाचरणमें जिनदेवको नमस्कार किया था। यह नाटिका अणहिल्लपाटनके राजा कर्णके जैनमंत्री सम्पत्करके बनवाये हुये आदिनाथ भगवानके यात्रामहोत्सवके लिये बनाई गई थी।

आशाधरजीके एक शिष्य मदनोपाध्याय थे। यह महाराज अर्जुनदेवके राजगुरु और महाकवि थे। यह अर्जुनदेव विन्ध्यवर्माके पुत्र थे। आशाधर और उनके पुत्रने इनको भी अपने गुणोंसे प्रसन्न कर लिया था। मदनोपाध्यायके अतिरिक्त आशाधरने देवेन्द्र आदि विद्वानोंको व्याकरण, विशालकीर्ति आदिको तर्कशास्त्र और विनयचंद्र आदिको जैन सिद्धांत पढ़ाया था। उससे आशाधरकी विद्वत्ता, पढ़ानेकी शक्ति और परोपकारशीलताका पता चलता है। उनके स्वयं गृहस्थ होनेपर भी बड़े २ मुनि उनके पास विद्याध्ययन करने आते थे। राजा अर्जुनदेवके राज्य समयमें जैनधर्मकी उन्नतिके लिये आशाधर नालछा (नलकच्छपुर) के नेमिनाथजीके मन्दिरमें जारहे थे। नालछा उस समय जैनधर्मका केंद्र था। कविराजने अनेक अमूल्य ग्रंथ रचकर एवं अन्य उपायों द्वारा जैनधर्मका मस्तक

ऊंचा किया था। उनके रचे हुये ग्रन्थ बहुत ही अपूर्व हैं। उनके ग्रंथोंमें 'सागारधर्मामृत' विशेष उल्लेखनीय है। 'अध्यात्मरहस्य' नामक ग्रन्थ कविराजने अपने पिताकी आज्ञामें बनाया था। उनके पिता धारामें आकर अर्जुनदेवके सन्धिविग्रहिक मंत्री होगये थे।[1] कविराजके बनाये हुए ग्रंथोंके नाम इस प्रकार हैं:—

"(१) प्रमेय रत्नाकर (स्याद्वाद मतका तर्क ग्रंथ), (२) भरतेश्वराभ्युदय काव्य और उसकी टीका. (३) धर्मामृत शास्त्र टीका सहित (जैन मुनि और श्रावकोंके आचारका ग्रन्थ). (४) राजीमती विप्रलम्भ (नेमिनाथ विषयक खण्डकाव्य), (५) अध्यात्म रहस्य (योगका), (६) मूलाराधना टीका, इष्टोपदेश टीका, चतुर्विंशतिस्तव आदिकी टीका. (७) क्रिया कलाप (अमरकोष टीका), (८) रुद्रटकृत काव्यालंकारपर टीका. (९) सटीक सहस्रनाम स्तव. (१०) सटीक जिनयज्ञ कल्प. (११) त्रिषष्ठि स्मृति (आर्ष महापुराणके आधारपर ६३ महापुरुषोंकी कथा). (१२) नित्य महोद्योत (जिन पूजन). (१३) रत्नत्रयविधान और (१४) वाग्भटसंहिता (वैद्यक) पर अष्टांग हृदयोद्योत नामकी टीका। उल्लिखित ग्रन्थोंमेंसे त्रिषष्ठि स्मृति वि० सं० १२९२ में और भव्य कुमुदचंद्रिका नामकी धर्मामृत शास्त्रपर टीका वि० सं० १३०० में समाप्त हुई। यह धर्मामृत शास्त्र भी आशाधरने देवपालदेवके पुत्र जैतुगिदेवके ही समयमें बनाया था।"[2]

कविवर अर्हद्दासने आशाधरजीके उपदेशसे जैनधर्म ग्रहण

१–विर०, पृ० ९९–११४। २–भाप्रारा०, भा० १ पृ० १५७।

किया था। उनका रचा हुआ 'मुनिसुव्रतकाव्य' विशेष प्रसिद्ध है। श्वेतांबर ग्रन्थ 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' में लिखा है (सं० १४०५) कि उज्जैनीमें विशालकीर्ति नामक दिगम्बर साधु थे। उन्होंने वादियोंको पराजित करके 'महाप्रमाणिक' पदवी पाई थी। यह संभवतः आशाधरजीके ही शिष्य थे। इन्होंने कर्णाटक देशमें जाकर विजयपुर नरेशके दरबारमें आदर पाया था और अनेक विद्वानोंको पराजित किया था। किंतु अंतमें वह मुनिपदसे भ्रष्ट होगये थे।[1]

बंगाल और ओड़ीसामें जैनधर्म।

उत्तर और मध्यभारतकी तरह बंगाल और ओड़ीसामें भी जैन धर्मका अस्तित्व ईसवी १३ वीं शताब्दितक रहा था। 'भक्तामरकथा' में प्रगट है कि इस समयमें चम्पापुरका राजा कर्ण जैनी था। भगवान महावीरकी जन्म नगरी विशालाका राजा लोकपाल भी जैनधर्म भक्त था।[2] विशालामें जब ह्युयेनत्सांग पहुंचा था, तब उसे बहुत जैनी मिले थे। यहांसे कई मुद्रायें ऐसी मिली हैं जिनपर तीर्थंकरोंकी पादुकायें हैं। तथापि सन २०० के लगभगवाली मुहरपर 'भट्टारक महाराज धिराज' का उल्लेख है।[3] पटनाका राजा धात्रीवाहन था, जिसकी कामलता नामक कन्या बड़ी विद्यासम्पन्न थी। ये शिवभूषण नामक जैनमुनिके उपदेशसे जैनी हुये थे। गौड़ देशका राजा प्रजापति प्रारम्भमें बौद्धधर्मी था; परन्तु जैनसाधु मतिसागरकी वादशक्तिपर मुग्ध होकर यह राजा और प्रजा जैनी हुये थे। ताम्रलुक नगरमें महेभ नामक जैन सेठ बड़ा प्रसिद्ध था। वह

१–जैहि०, भा० ११ पृ० ४८९। २–भप्र० पृ० २४०। ३–बंबिओजैस्मा० पृ० २३–२६।

सिंहलद्वीपसे जहाजों द्वारा व्यापार करता था।[1] ताम्रलूक जैनोंका सिद्धक्षेत्र है। उक्त राजा और सेठ संभवत: ७वीं ८वीं शताब्दीमें हुये होंगे: क्योंकि इन शताब्दियोंमें बङ्गालमें दिगम्बर जैनोंका अधिक प्राबल्य था; जैसा कि चीन यात्री हुएनत्सांगके कथनसे प्रगट है।[2] ९वीं शताब्दिसे १२वीं शताब्दि तक बंगालमें पालवंशके राजाओंका अधिकार रहा था और ये बौद्धधर्मानुयायी थे। इनके बाद ११वीं शताब्दिके लगभग सेनवंशका अभ्युदय हुआ था। सेनवंशका सम्पर्क मूलमें जैनधर्मसे प्रगट होता है; परन्तु मालूम नहीं कि बंगालमें सेनवंशी राजाओंने जैनधर्मको संरक्षण दिया था या नहीं।[3]

इस प्रकार इस कालमें यहांपर राजाश्रय विहीन होकर जैन धर्म अपना प्राबल्य खो चला और मुसल्मानोंके आक्रमणके साथ वह यहां नष्टप्राय: होगया। किंतु बंगाल, बिहार, ओड़ीसा प्रांतोंसे जैनोंका जो अत्यधिक पुरातत्व इस कालका मिलता है, उससे इस समय जैनधर्मका जनसाधारणमें बहु प्रचलित होना प्रमाणित है। राजग्रहीमें एक जैनगुफापरके लेखसे प्रगट है कि इसी समयके लगभग परम तेजस्वी आचार्य वैरदेवकी अध्यक्षतामें वहां एक जैनसंघ था। राजगिरीसे एक ऐसा सिक्का भी मिला है, जिनपर गुप्तकालके अक्षरोंमें 'जिनरक्षितस्य' लिखा है; इससे उस सिक्केका चालक राजा जैनधर्मानुयायी प्रगट होता है।[4] राजगिरि जैनोंका प्राचीन तीर्थ है। सम्मेदशिखर, चम्पापुर, पावापुर, कुंडलपुर आदि जैन तीर्थ

१-जैप्र० पृ० २४१-२४३। २-वीर वर्ष ३ पृ० ३७१। ३-वीर वर्ष ४ पृ० ३२८-३३२। ४-बंबिओजंस्मा० पृ० १६।

भी बंगाल-बिहारमें हैं। मानभूम जिलेके सराक लोग आज भी वहां-पर फैले हुये प्राचीन जैनधर्मको प्रगट कर रहे हैं। ये प्राचीन जैन श्रावक हैं। सिंहभूम जिलेपर एक समय जैनोंका अधिकार था। वहां इन प्राचीन श्रावकोंने जंगलोंमें घुसकर तांबेकी कानें खोदी थीं और अपने धार्मिक स्मारक वहां बनवाये थे। वामन घाटीमें दो ताम्रपत्र १२०० ई०के मिले हैं जिनमें प्रगट है कि मयूरभंजके भंजवंशके राजाओंने बहुतसे ग्राम जिनमंदिरोंको भेंट किये थे। इस वंशके संस्थापक वीरभद्र थे, जो एक करोड़ साधुओंके गुरु थे। ये जैन थे।[1] ऐसे ही और भी अनेक जैन लेख बिखरे हुये पड़े हैं। जो हो, बंगालमें भगवान महावीरके समयसे लेकर ७ वीं शताब्दि ई० तक जैनधर्म सफलतापूर्वक फैला हुआ था।

ओड़ीसाके अंतिम राजा व जैनधर्म।

ओड़ीसामें खारवेलके वंशजोंके बाद आन्ध्रवंशका अधिकार होगया था और ये प्रायः बौद्धधर्मानुयायी थे। उपरांत ययाति केसरी द्वारा स्थापित केसरी वंशने वहां १२ वीं शताब्दितक राज्य किया था। उनके समयमें जैनधर्मका पुनरुत्थान हुआ मालूम होता है; क्योंकि उद्योतकेसरी राजाके राज्य-कालके कई जैन लेख मिले हैं, जिनमें वहांपर जैनाचार्यों द्वारा धर्म प्रचार होनेका बोध होता है। इन आचार्योंमें शुभचंद्र और यशनंदि उल्लेखनीय हैं। जब गङ्गराजाओंका अधिकार ओड़ीसापर हुआ तो उन्होंने चरण—ब्राह्मणोंके कहनेसे जैनियोंको बहुत सताया।[2] इस अत्याचारसे जैनोंका अस्तित्व ही वहां मुश्किल होगया।

१—पूर्व० पृ० ६५—६६। २—पूर्व पृ० ९२—१०४।

राजपूतानामें तत्कालीन जैनधर्म।

उत्तरीय और पूर्वीय भारतके समान ही दक्षिण भारत और राजपूतानामें भी जैनधर्म अपना प्रभाव जमाए हुये था। दक्षिण भारतका विशद वर्णन तो इस भागके तृतीय खंडमें किया जायगा, किन्तु राजपूतानामें जैनधर्मके प्रभावका दिग्दर्शन यहां करा देना अनुचित न होगा। राजपूताना जिसको पुरातन कालमें 'मरुभूमि' कहते थे, जैनधर्मके सम्पर्कमें एक अतीव प्राचीन कालसे आगया था। यदि हम इतिहासातीत कालकी बातको जाने दें और केवल भगवान् महावीरजीके समयसे ही इस सम्बन्धमें विचार करें तो प्रगट होता है कि जैनधर्मका प्रचार वहां भगवान् महावीर द्वारा हुआ था। उनके बाद मौर्य्य सम्राट् चंद्रगुप्त और संप्रति आदिके प्रशंसनीय प्रयत्नोंके फलस्वरूप जैनधर्मका मस्तक वहां बहुत ऊंचा रहा था। ईसाकी प्रारम्भिक शताब्दियोंसे करीब२ तेर-हवीं शताब्दि तक जैनधर्म राजपूतानेमें राजाश्रयमें रहकर फलता-फूलता रहा था। किन्हीं विद्वानोंका यह ख्याल है कि राजपूत लोगोंपर जैनधर्मकी अहिंसात्मक शिक्षा कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकी थी। किंतु बात वास्तवमें यों नहीं है। जैनधर्मकी अहिंसा-त्मक शिक्षा किसी भी प्राणीके लौकिक कार्योंमें बाधा पहुंचानेवाली नहीं है। बड़े२ जैन राजाओं और सेनापतियोंने बढ़ चढ़कर लड़ा-इयां लड़ी हैं, यह बात पूर्व पृष्ठोंके अवलोकनसे स्पष्ट है। उसपर राजपुत्रों (क्षत्रियों) का जन्म ही उस महापुरुष द्वारा हुआ है, जिसने जैनधर्मकी नींव इस कालमें रक्खी थी।

भगवान् ऋषभदेव ही क्षत्रियोंके आदिपुरुष हैं। इस दशामें

क्षत्रियों द्वारा उसको सन्मान न मिलना एक असंभव बात है। कर्नल टॉड सा०ने जो राजपूतोंकी उत्पत्ति आबू पर्वतपर अग्निकुण्डसे हुई लिखी है, उससे भी इन लोगोंका जैनधर्मसे बहु संपर्क प्रमाणित है। टॉड सा० लिखते हैं कि 'पराक्रमकारी जैन लोगोंकी चढ़ाईसे अपने धर्मकी रक्षा करनेको ब्राह्मणोंने अग्निकुल उत्पन्न किया। परन्तु मुसलमानोंकी चढ़ाईके समय अग्निकुलके अधिकांश लोग जैन होगये।' अग्निकुलके सोलंकी, परमार आदि राजपूत वंश इस मुसलमानोंके आक्रमणके पहलेसे ही जैनधर्मको आश्रय देरहे थे, यह लिखा जाचुका है। आबूपर जहां अग्निकुण्ड जलाकर अग्निवंशकी स्थापना की गई थी, वहां आदिनाथ भगवानकी पाषाण मूर्ति वेदीपर विराजमान है।[1]

मेवाडके राणावंशमें जैनधर्म।

राजपूतानामें उदयपुरके राणाओंका वंश प्रसिद्ध है। जैन धर्मकी मान्यता इस वंशमें एक अतीव प्राचीन कालसे प्रगट होती है। आज भी मेवाड़-राजवंशमें जैनधर्मको विशेष सम्मान प्राप्त है। इस वंशकी उत्पत्ति उसी वंशसे हुई मानी जाती है; जिसमें प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवका जन्म हुआ था।[2] राणाओंके आदिपुरुष गुहिल नामक क्षत्री ई० स० ५६८में हुये थे। कर्नल टॉड सा० कहते हैं कि गिल्होत कुलके आदिपुरुष भी जैनधर्ममें दीक्षित थे। इसी कारण गिल्होतकुलके राजा लोग अपने पितृपुरुषोंके धर्मपर अनुराग करते रहे हैं।[3] अतः प्रारंभमें ही राजाश्रय पाकर

१-टॉड, राजस्थान (वेङ्कटेश्वर प्रेस) भा० १ पृ० ९२-९७।
२-राई०, भा० १ पृ० ३६९। ३-टॉरा०, भा० १ पृ० ७१९।

जैनधर्म मेवाड़में खूब फलाफूला है। मेवाड़की प्राचीन कीर्तियां इस बातकी साक्षी हैं। चितौड़में जैन कीर्तिस्तंभ एक अपूर्व जैन शिल्प है। उसके नीचे एक पाषाण खंड परके सं० ९५२ के लेखसे उस समय वहांपर बहुतसे दिगंबर जैनियोंका होना प्रगट है।[1] जैन कीर्ति-स्तंभको दिगंबर संप्रदायके बघेरवाल महाजन सा (साह) नामके पुत्र जीजाने वि० सं०की १४ वीं शताब्दिके उत्तरार्द्धमें बनवाया था। इस स्तंभके पास ही एक प्राचीन जैन मंदिर भी मौजूद है। चितौड़में गोमुखके निकट महाराणा रायमलके समयका बना हुआ एक और जैनमंदिर है; जिसकी मूर्ति दक्षिणमें लाई गई थी।[2]

उदयपुरमें विशेष मान्य और प्राचीन जैन स्थान केशरियाजी ऋषभदेवका है। यहांकी मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है।[3] दिगंबर जैना-चार्य श्री धर्मचन्द्रजीका सम्मान और विनय महाराणा हम्मीर किया करते थे।[4] सं० १२०५में रामपालदेवका राज्य था, तब गोहिल-वंशीय उद्धरणके पुत्र राजदेवने, जो रामपालके आधीन था, करका बीसवां भाग नादलाईके जैनमंदिरको पूजाके वास्ते दिया था। (मप्राजैस्मा० पृ० १४७) नादालके पद्मप्रभके मंदिरमें सं० १२१५ के लेखसे प्रगट है कि राणा जगतसिंहके मंत्री जयमलने वह मंदिर बनवाया था। वि० सं० १३३५ (१२७१ ई०)में रावल समरसिंह-की माता जयतल्देवीने चितौड़में श्याम पार्श्वनाथका मंदिर बनवाया

१–मप्राजैस्मा०, पृ० १३४। २–राइ०, भा० १ पृ० ३९२–३९४। ३–राइ०, भा० १ पृ० ३४६। ४–'श्री धर्मचन्द्रोऽजनि तस्य पट्टे हमीरभूपालसमर्चनीयः।' जैहि०, भा० ६ अंक ७–८ पृ० २६।

था।[1] इनके उपरान्त महाराणा भीमसिंह, कुम्भ इत्यादिने जैनधर्मके लिये जो किया, वह हम तीसरे भागमें देखेंगे।

राजपूतानामें उदयपुरके बाद मारवाड़की विशेष प्रसिद्धि है।

मारवाड़में जैनधर्म। राजपूतानावासी वैश्य 'मारवाड़ी' नामसे सर्वत्र प्रख्यात हैं। सन १२२६के लगभग मारवाड़में राठौर क्षत्रियोंका अधिकार होगया था। राठौर अथवा राष्ट्रकूट वंशके पूर्वजोंमें जैनधर्मकी मर्यादा विशेष रही थी। मारवाड़के राठौरोंमें चक्रेश्वरी देवीकी विशेष मान्यता है;[2] जो तीर्थङ्करकी शासन देवता हैं। मारवाड़ राठौर वंशके चौथे राजा राव रायपालजीके तेरह पुत्र थे; जिनमें ज्येष्ठ पुत्र कनकपाल वि०सं० १३०१ में राज्याधिकारी हुये थे। शेष पुत्रोंमें एक मोहनजी नामक भी थे। मोहनजीने अपना दूसरा विवाह एक श्रीश्रीमाल कन्यासे किया था; जिससे उनके सम्पसेन नामक पुत्र हुआ था। सम्पसेनने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था और वह ओसवाल जैनियोंमें सम्मिलित होगया था। उसकी संतान आजकलके मुहणोत ओसवाल हैं। मारवाड़के राज्यशासनमें उनका हाथ रहा है। उनमें मंत्री और सेनापति कई हुये हैं।[3] मुहणोतोंके अतिरिक्त जोधपुर राजमें भंडारी ओसवालोंका भी हस्तक्षेप रहा है। भंडारी ओसवाल अपनी उत्पत्ति अजमेरके चौहान घरानेसे बताते हैं इनके पितामह राव लक्ष्मण (लखमसी)ने अजमेरके घरानेसे अलग हो नाडौलमें अपना एक प्रथक

१-राई०, भा० १ पृ० ३८१। २-भाप्रारा०, भा० ३ पृ० ११८-१२९। ३-सहिजै०, पृ० ३३-३४ व भाप्रारा०, भा०३ पृ० १२७।

राजकुल स्थापित किया था। लखमसी एक महापुरुष और वीर देश-भक्त था। उसने अन्हिलवाड़से कर व चित्तौड़के राजासे खिराज वसूल किया था। नाडोलका किला उसीने बनवाया था। उसके २४ पुत्र थे; जिनमें एक दादराव थे। भण्डारी कुलके जन्मदाता यही थे। सन ९९२ ई० में श्री यशोभद्र सूरीके उपदेशसे उन्होंने जैनधर्म ग्रहण किया था। दादराव राजभंडारके अधिकारी थे। इसी कारण उनका वंश 'भण्डारी' नामसे परिचित हुआ है। जोधपुरमें जबसे यह लोग आये तबसे इनकी मान्यता राजदर्बारमें खूब है और ये बड़े २ पदोंपर रहे हैं। नाडोलके चौहान राजाओंकी भी उन्होंने खूब सेवा की थी। वि० सं १२४१ में भण्डारी यशोवीर पल्ल ग्रामके अधिकारी बना दिये गये थे। उन्होंने महाराज समर-सिंहदेवकी आज्ञानुसार एक जैन मंदिरका जीर्णोद्धार कराया था। भंडारी मिगल इसी राजाओंके मंत्रियोंमेंसे एक थे।[१] नाडोलके कई एक राजाओं और रानियोंने जैन मंदिरोंके लिये दान दिये थे। उनके पुण्यमई कार्योंसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि मारवाड़के राज-वंशपर जैनधर्मका खूब प्रभाव था।

नाडौलके चौहान और जैन धर्म।

चौहान राजकुलमें प्रख्यात् राजा अल्हणदेव थे। उन्होंने सन ११६२ में नाडोलके श्री महावीरजीके जैन मंदिरके लिये दान किया था। अल्हणके पिता अश्वराज थे और उसने वि० सं० १२०० से १२१८ तक चालुक्य नृप कुमारपाल जैनके सामन्तरूपमें राज्य किया था।[२] जैनधर्मको उसने खूब

१-सडिजै०, पृ० ३६-३७। २-डिंजबा०, भा० १ पृ० ४३।

अपनाया था, उसने एक आज्ञापत्र निकालकर महीनेके कई दिनोंमें हिंसाका निषेध कर दिया था। दादरावको जैनधर्मभुक्त बनानेवाले यशोभद्रसूरिके उत्तराधिकारी सालिसूरि थे और वह चौहानवंशके भूषण कहे गये हैं।[१] इससे उनका चौहान राजकुमार होना प्रगट है। इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि जैनधर्मने चौहान राजकुलमें कितना गहन और घनिष्ट सम्बन्ध पालिया था। उपरोक्त अल्हणदेवके तीन पुत्र (१) केल्हाण, (२) गजसिंह और (३) कीर्तिपाल थे। कीर्तिपालका पुत्र अभयपाल था। इसने और इसके भाई लखनपालने अपनी माता महिबलदेवीके साथ वि० सं० १२३३ में जैन मंदिरको इसलिए दान दिया था कि उसमें शान्तिनाथ तीर्थंकरका उत्सव मनाया जाया करे।[२]

हस्तिकुंडीके राठोड़ोंमें जैनधर्म।

राजपूतानामें राठौर क्षत्रियोंका राज्य पहलेसे होनेके चिह्न मिलते हैं। हस्तिकुंडी (हथूंडी) में एक लेख सन ९९७ ई०का मिला है, उसमें वहांपर राठोड़ोंका राज्य होना प्रमाणित है। हथूंडीके राठोरोंकी वंशावली हरिवर्मा नामक राजासे प्रारम्भ की गई है। इसका पुत्र विदग्धराज था, जो इसके बाद सन् ९१६ ई० में राज्याधिकारी हुआ था। विदग्धराज जैन धर्मानुयायी था। उसने ऋषभदेवजीका एक भव्य मंदिर बनवाया था और बलभद्र मुनिकी कृपासे उसके लिए भूमिदान किया था। विदग्धका पुत्र मम्मट था। उसने उक्त दानको बढ़ा दिया था। वह

१–सहिजै०, पृ० ३९ व ३६। २–डिजैग्गा०, भा० १ पृ० १२।
३–भाप्रारा०, भा० ३ पृ० ९१–९२।

सन् ९.३९. ई० में शासन करता था। उसका पुत्र धवल एक पराक्रमी राजा था। अपने बाबा और पिताके समान वह भी जैन धर्मानुयायी था। मेवाड़पर जब मालवाके राजा मुञ्जने हमला किया था, तब वह उससे लड़ा था। सांभारके चौहान राजा दुर्लभराजसे नाडौलके चौहान राजा महेन्द्रकी रक्षा की थी। और अनहिलवाड़ाके सोलंकी राजा मूलराज द्वारा नष्ट होते हुये धरणीवाहको आश्रय दिया था। वृद्धावस्थाके कारण धवलने सन् ९.९.७ के लगभग राज्यभार अपने पुत्र बालप्रसादको सौंप दिया था। धवलके राज्य-कालमें शांतिभट्टने श्री ऋषभदेवजीके बिम्बकी प्रतिष्ठा की थी और उसे विदग्धराज द्वारा बनवाये गये मंदिरमें स्थापित की थी। धवलने इस मंदिरका जीर्णोद्धार कराया। इसके बाद इस जैनधर्म प्रभावक वंशका कुछ हाल नहीं मिलता। हस्तिकुंडिया गच्छके मुनियोंको इनने आश्रय दिया था।[1]

मंडोरके प्रतिहारों द्वारा जैनधर्मका उत्कर्ष।

राजपूतानामें मण्डोरके प्रतिहार वंशमें भी जैन धर्म आदर पाचुका है। इस राजवंशकी उत्पत्तिके विषयमें कहा जाता है कि हरिश्चन्द्र नामक एक विद्वान् विप्र था और प्रारम्भमें वह किसी राजाका प्रतिहार था। उसकी क्षत्रियवंशकी रानी भद्रासे चार पुत्र—(१) भोगभट. (२) कक. (३) रज्जिल और (४) दद्द हुए। उन्होंने मांडव्यपुर (मण्डोर) के दुर्गपर कब्जा करके एक ऊंचा कोट बनवाया था।[2] इस वंशका सर्व अंतिम राजा कक्कुक बड़ा प्रसिद्ध था। उसके दो लेख घटियालेसे वि० सं०

१–मप्राजैस्मा०, पृ० १६२। २–राइ०, भा० १ पृ० १४८–१४९।

९,१८ के मिले हैं, जिनमें प्रगट होता है कि 'उसने अपने सच्चारित्रसे मरु, माड़, वल्ल, तमणी, अज्ज (आर्य) एवं गुज्जरत्राके लोगोंका अनुराग प्राप्त किया, वडणाणय मण्डलमें पहाड़परकी पल्लियों (पालों, भीलोंके गांवों) को जलाया, रोहिंसकूप (घटियाले) के निकट गांवमें हट्ट (हाट) बनवाकर महाजनोंको बसवाया, और मड्डोअर (मंडोर) तथा रोहिन्सकूप गावोंमें जयस्तंभ स्थापित किये। कक्कुक न्यायी प्रजापालक एवं विद्वान था। और संस्कृतमें काव्य रचना करता था।[1] उसके लेखके प्रारम्भमें श्री जिननाथ (जिनेन्द्रदेव) को नमस्कार किया गया है और उसमें एक जैन मंदिर बनवानेका उल्लेख है। इस कारण इस राजाका जैन धर्मानुयायी होना प्रगट है।[2] सं० १२०० के लगभग नाडोलके चौहान राजाओंने मंडोरपर अधिकार जमा लिया था।

वागड़ प्रांतमें जैनधर्म। मालवेके परमार राजा वाक्पतिराजके दूसरे पुत्र डम्बरसिंहके वंशमें वागड़के परमार हैं। उनके अधिकारमें बांसवाड़ा और डूंगरपुरके राज्य थे।[3] उनकी राजधानी उत्थूणक नगर (अथूणा) था। यहांके संवत ११६६ के एक जैन शिलालेखमें प्रगट है कि वागड़ प्रांतमें भी जैनधर्म अच्छी उन्नत दशापर था। सं० ११६६ में परमार वंशी विजयराजका राज्य था। नागरवंशी भूषण नामक जैन

१–राइ०, भा० १ पृ० १९१–१९२। २–'ॐ सग्गापवग्गमग्गं पढमं सयलाण कारणं देवं। णीसेस दुरिअदलणं परमगुरु णमह जिणणाहं॥'–प्राचीन लिपिमाला, पृ० ६९। ३–भाप्रारा०, भा० १ पृ० १७४।

श्रेष्ठी वहां रहते थे। उन्होंने श्री वृषभदेवका एक सुन्दर मंदिर बनवाया था और भगवानकी दर्शनीय प्रतिमा प्रतिष्ठा कराकर विराजमान कराई थी। माथुरान्वयी श्री छत्रसेनाचार्यने उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। यह नागर जैनी तल्पाटकपत्तनके निवासी थे। इनके पूर्वजोंमें 'अंबर' नामक व्यक्ति एक प्रसिद्ध वैद्य थे। जैन वासनासे वह इतने अनुवासित थे कि उनकी रग २ में जैनधर्म व्याप्त था। वह देशव्रती थे और चक्रेश्वरी देवी उनकी सेवा करती थी।[1] झारोली (सिरोही) के श्री शांतिनाथ मंदिरके शिलालेखमें प्रगट है कि परमार राजा धारावर्षकी रानी शृंगारदेवीने सं० १२५५ में उक्त मंदिरको भूमिदान किया था। (मप्राजैस्मा० पृ० १६०)

अजमेरके चौहान राजा व जैनधर्म।

राजपूतानेमें चौहान राजाओंने पांचवीं शताब्दिके लगभग अजमेरको बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था।[2] अजमेरके चौहानोंमें जैनधर्मका आदर रहा था। इस वंशके चौथे राजा जयराजका उल्लेख जैन ग्रंथ 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' में है। इस वंशके राज़ाओंका उल्लेख बीजोल्यां (मेवाड़) के जैन शिलालेखमें खूब दिया हुआ है। बीजोल्यांका पंचायतन पार्श्वनाथ मंदिर एक अतिशय क्षेत्र है। वहां मंदिरके बाहर भट्टारकोंकी निषधिकायें भी हैं; जिनसे पता चलता है कि एक समय यह स्थान जैनोंका मुख्य केन्द्र था। पहले दिगम्बर संप्रदायके पोरवाड़ महाजन लोलाकने यहां पार्श्वनाथजीका तथा सात अन्य मंदिर बनवाये

१–जैहि०, भा० १३ पृ० ३३२। २–भाप्रारा० भा० १ पृ० २२६–२२९।

थे। उनके टूट जानेपर ये पांच मंदिर बनवाये गये हैं। दो चट्टानोंपर लेख खुदे हुए हैं। उनमेंसे एक वि० सं० १२२६ फाल्गुण वदी ३ का चौहान राजा सोमेश्वरके समयका लोलाकका खुदवाया हुआ है, जिसमें लोलाक एवं उनके पूर्वजोंके धर्म-कार्योंका खूब वर्णन है। अजमेरके चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) ने मोराकुरी गांव और चौहान नृप सोमेश्वरने रेवणा गांव श्री पार्श्वनाथजीके उक्त मंदिरको भेंट किये थे। दूसरे चट्टानपर 'उन्नत शिखर पुराण' खुदा हुआ है। इन उल्लेखोंसे अजमेरके चौहान राजाओंका जैनधर्मके प्रति अनुराग प्रगट है।[1]

सिंधु और पंजाबमें जैनधर्म।

पन्द्रहवीं शताब्दी तक राजपूतानाके समान सिंध और पञ्जाबमें भी जैनोंका उल्लेखनीय अस्तित्व था। मध्यकालके बने हुये जैन मंदिर आदि इस बातके साक्षी हैं। सन १२४० ई०में ब्रह्मक्षत्र गोत्रके अल्हण और दोल्हणने पञ्जाबमें कांगडा जिलेके कीर ग्राममें एक महावीर स्वामीका मंदिर बनवाया था। तक्षशिलाके पासवाले जैन अतिशय क्षेत्रपर भी इस समयका जैन शिल्प मिलता है।[2] सं० १४८४में जयसागर उपाध्याय द्वारा रचित 'विज्ञप्तित्रिवेणि:' नामक पुस्तकसे प्रकट है कि उनके पहलेसे सिंध और पञ्जाबमें जैनोंकी घनी बस्ती थी। मरुकोट्ट, नंदनवन और कोटिलग्राम आदि प्रसिद्ध जैनतीर्थ थे। 'सर्वसाधारण जनताको और राजादिकोंको भी उस समय जैनधर्मसे बहुत कुछ सहानुभूति थी।'[3]

१-राइ०, भा० १ पृ० ३६३। २-हिंजैबा०, भा० १ पृ० ४२
३-एजाइं नोट्स।

तब पंजाबमें नगरकोट, जो आजकल कोट कांगडा नामसे प्रसिद्ध है, एक मुख्य जैनतीर्थ था । श्वेतांबर जैनोंके भी वहां चार मंदिर थे । वहांका राजा जैनधर्मसे सहानुभूति रखता था । उसके दीवान दि० जैन धर्मानुयायी थे ।[1]

तत्कालीन दिगम्बर जैन संघ ।

इस कालमें जैनधर्मकी उन्नति करनेके लिये जैनाचार्योंको अच्छा सुभीता रहा था । जहां आठवीं शताब्दिके लगभग शङ्कराचार्यकी दिग्विजयके समक्ष एकवार जैनधर्मको भारी धक्का पहुँचा था, वहां उपरांत कालमें राजाश्रय पाकर वह फिर फलने-फूलने लगा । हम पहले देख आये हैं कि दिगंबर जैनाचार्योंका केन्द्र भद्दलपुर (दक्षिण) से हटकर उज्जैन आगया था। पट्टावलियोंसे प्रगट है कि सन् १०५८ ई० तक उज्जैन ही जैनाचार्योंका मुख्य स्थान रहा था । उपरान्त वागनगर उनकी कर्मस्थली रही थी । सं० १२६८ में वहांसे हटकर वह केन्द्रस्थल ग्वालियरमें जा पहुँचा था । अजमेर और चित्तौड़ भी इन दिगम्बर जैनाचार्योंके लीलास्थल रहे थे ।[2] इस प्रकार इस कालमें दिगंबर जैन संघका आगमन दक्षिणकी ओरसे उत्तरकी ओर हुआ था । दक्षिण भारतीय जैनोंकी मान्यता है कि एक लक्ष्मीसेन नामक जैनाचार्य बड़े भारी विद्वान् प्रसिद्ध थे । उन्होंने जैनोंके चार विद्यापीठ स्थापित किये थे: जिनमें तीन दक्षिणभारतमें और एक दिल्लीमें था ।[3] इससे

१–जैहि०, भा० १३ पृ० ८१ । २–इंए० भा० २० पृ० ३५१ –३५२ व जैहि०, भा० ६–७–८ पृ० ३२ । ३–जैग०, भा० २२ पृ० ३७ ।

भी पट्टावलियोंके उक्त कथनका समर्थन होता है। श्वेताम्बर जैनोंका लीलास्थल मुख्यतः गुजरात ही रहा है। जिस समय ग्वालियरमें दिगम्बर जैन पट्ट था, उस समय सं० १२०३ में रत्नकीर्ति नामक एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे। 'वह स्याद्वादविद्याके समुद्र थे, बालब्रह्मचारी थे, तपस्वी थे, दयालु थे, उनके शिष्य नाना देशोंमें फैले हुए थे।'[1]

उस समयके दिगंबर जैन संघमें उज्जैनका संघ प्रख्यात था। उस संघमें नव निम्नलिखित आचार्य हुये

उज्जैन व बाराका संघ। थे।[2] (१) अनंतकीर्ति सन ७०८ ई०, (२) धर्मनन्दि सन् ७२८ ई०, (३) विद्यानन्दि सन् ७५१ ई०, (४) रामचन्द्र ७८३ ई०, (५) रामकीर्ति ७९० ई०, (६) अभयचंद्र ८२१ ई०, (७) नरचन्द्र ८४० ई०, (८) नागचंद्र ८५९ ई०, (९) हरिनन्दि ८८२ ई०, (१०) हरिचंद्र ८९१ ई०, (११) महीचन्द्र ९१७ ई०, (१२) माघचन्द्र ९३३ ई०, (१३) लक्ष्मीचंद्र ९६६ ई०, (१४) गुणकीर्ति ९७० ई०, (१५) गुणचन्द्र ९९१ ई०, (१६) लोकचंद्र १००९ ई०, (१७) श्रुतकीर्ति १०२२ ई०, (१८) भावचन्द्र १०३७ ई०, (१९) महाचन्द्र १०५८ ई०।

उज्जैनके उपरान्त दिगम्बर मुनियोंका केंद्र विन्ध्याचल पर्वतके निकट स्थित बारानगर नामक स्थान हुआ था। बारा प्राचीनकालसे ही जैनधर्मका केन्द्र था। ग्यारवीं शताब्दिमें वहां श्री पद्मनंदि मुनिने 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति'की रचना की थी। इस ग्रन्थकी

१–जैहि०, भा० ६ अंक ७–८ पृ० २६। २–जैहि०, भा० ६ अङ्क ७–८ पृ० ३०–३१।

प्रशस्तिमें लिखा है कि "वारा नगरमें शांति नामक राजाका राज्य था । यह नगर धनधान्यसे पूर्ण था । सम्यग्दृष्टि-जनोंसे, मुनियोंके समूहसे और जैनमंदिरोंसे भूषित था । राजा शान्ति जिनशासन-वत्सल, वीर और नरपति संपूजित था । श्री पद्मनंदिजीने अपने गुरु आदि रूपमें इन दिगम्बर मुनियोंका उल्लेख किया है; वीरनंदि, बलनंदि, ऋषि विजयगुरु, माघनंदि, सकलचंद्र और श्रीनंदि ।[1] वारानगरके संघमें उपरान्त निम्नाङ्कित आचार्योंका अस्तित्व मिलता है ।[2]

(१) माघचन्द्र सन् १०८३ ई०, (२) ब्रह्मनंदि १०८७ ई०, (३) शिवनंदि १०९१ ई०, (४) विश्वचन्द्र १०९८ ई०, (५) हरिनन्दि (सिंहनंदि) १०९० ई०, (६) भावनंदि ११०३ ई० (७) देवनंदि १११० ई०, (८) विद्याचन्द्र १११३ ई०, (९) सूरचन्द्र १११९ ई०, (१०) माघनंदि ११२७ ई०, (११) ज्ञाननंदि ११३१ ई० (१२) गंगकीर्ति ११४२ । गंगकीर्तिके पश्चात् वारानगरके स्थानपर संघका केन्द्र ग्वालियर होगया था । बारहवीं शताब्दिके अंततक वहां जैनधर्मका खूब उत्कर्ष हुआ । किंतु सन् १२०७ में भट्टारक वसन्तकीर्तिने अजमेरको अपना केन्द्र बनाया ।

प्रसिद्ध दिगंबराचार्य ।

उक्त दिगंबर जैनाचार्य देशभरमें सर्वत्र विहार करके धर्मोद्योत करते थे । परवादियोंसे वाद करनेमें उन्हें आनन्द आता था । वि० सं० १०२५ में अल्लू नामक राजाकी सभामें दिगम्बराचा-

१–जैसासं०, भा० १ अङ्क ४ पृ० १९० । २–जैहि०, भा० ६ अंक ७-८ पृ० ३१ व इंऐ० २०-३५४ ।

यका वाद एक श्वेतांबर आचार्यसे हुआ था। तेरहवीं शताब्दिमें अनन्तवीर्य नामक एक दिगंबराचार्य प्रसिद्ध नैयायिक और वादी थे। उन्होंने अगणित वादियोंको गतमद किया था। इसी समयके लगभग गुणकीर्ति नामक महामुनि विशद धर्म-प्रचारक थे। उन्हींके उपदेशसे पद्मनाभ नामक कायस्थ कविने 'यशोधरचरित्र' की रचना की थी।[१] झांसी जिलेका देवगढ़ नामक स्थान भी मध्यकालमें दिगंबर मुनियोंका केन्द्र था। वहां भी कई दिगंबराचार्य हुये थे, जिनके शिष्योंने अनेक धर्मकार्य किये थे। वि० सं० १२२३ में मुनि देवनंदिके शिष्य मुनि रामचन्द्रजी राज्यमान्य थे।[४] सन १२०५ में आचार्य महासेन दक्षिणभारतसे दिल्ली आये थे और उन्होंने बादशाह अलाउद्दीनके दरबारमें ब्राह्मण पंडितोंसे वाद करके जैनधर्मकी अपूर्व प्रभावना की थी।[५]

मुनि धर्म।

ईसवी प्रथम शताब्दिके प्रारम्भमें श्वेताम्बर संप्रदायके अलग होजानेसे यद्यपि निर्ग्रन्थ वीतरागवृत्ति पर संकटके बादल जरा हलके पड़ गये थे; किन्तु श्वेताम्बर जैनोंकी अभिवृद्धिके साथ वह फिरसे जोर पकड़ गये थे। दिगम्बर जैन संघमें भी निर्ग्रन्थवृत्तिमें अपवाद प्रारंभ हो गया; किन्तु भगवन् कुन्दकुन्द, जिनसेन, अमितगति इत्यादि जैनाचार्योंके समक्ष वह अधिक प्रभावशाली नहीं हो सका; यद्यपि काल महाराजकी कृपासे उसने जड़ अवश्य पकड़ ली। और उसके फलरूप द्राविड़ संघ, काष्ठासंघ आदिका प्रादुर्भाव

१-एडिनेबा०, पृ० ४९। २-पूर्व०, पृ० ८६। ३-दिगम्बरत्व और दि० मुनि पृ० १९१। ४-जैमि०, भा० १४ अंक ८ पृ० ७। ५-दानवीर माणिकचन्द्र पृ० ३९।

हुआ था। तथापि अन्तमें निर्ग्रन्थवृत्तिका पतन हुआ और दिगम्बर संघमें भी वस्त्रधारी भट्टारकों (मुनियों) की उत्पत्ति और उनकी मान्यता होने लगी थी। श्री गुणभद्राचार्यजी (८ वीं श०) के समयमें ही दिगम्बर मुनियोंमें शिथिलता घर कर चुकी थी; ऐसा उनकी उक्तियोंसे माल्हम होता है। और पं० आशाधरजीके समयमें दिगम्बरवृत्ति केवल जुगनूके समान चमकती रह गई थी। अतएव यह काल दिगम्बर जैन संघमें एक बड़ी उलटफेर अथवा क्रांतिका समय था। और इस क्रांतिके परिणामरूप प्राचीन सरलवृत्तिको बहुत कुछ धक्का पहुंचा था।[1] सं० ७५३ में मुनि कुमारसेन द्वारा काष्ठसंघकी उत्पत्ति मथुरामें हुई थी। मथुरा अब भी दिगम्बर जैनोंका केन्द्र था।

गृहस्थ धर्म। ईसवी तेरहवीं शताब्दि तक पौराणिक हिन्दूधर्मके साथ शैव, लिङ्गायत, रामानुज पंथ, आदिके भक्तिवाद एवं क्रियाकाण्डने भारतमें खासा प्रभाव जमा लिया था। दक्षिण भारतमें उसकी तूती बोलने लगी थी। प्राकृत जैनधर्म पर भी इस नूतन धार्मिक वृत्तिका बहुत कुछ असर पड़ा था। जहां एक समय जैन धर्मकी अहिंसा वृत्तिने हिन्दूधर्म पर अपनी गहरी छाप लगाई थी, वहां इस कालमें हिन्दूधर्मके भक्तिवाद और कर्मकाण्डने जैनधर्मके स्वरूपको विकृत बना दिया। जैनधर्ममें जातिभेद यद्यपि प्राकृत रूपमें स्वीकृत था, परन्तु वह पारस्परिक घृणा और द्वेषका कारण नहीं था। उसमें जाति और कुलका मोह मिथ्यात्व माना जाता था।[2] किन्तु ब्राह्मणोंके संसर्गसे जैनधर्मानुयायियोंमें भी जातीय-प्रभेदका भूत सिरपर

१-भमी०, पृ० १-१८। २-रश्रा०, पृ० २६।

चढ़ बैठा और तबसे वह बराबर उसे अच्छा नाच नचा रहा है। पहले जैन धर्ममें अग्निपूजा, श्राद्ध तर्पण. यज्ञोपवीत आदिको भी स्थान प्राप्त नहीं था; किन्तु इस कालमें इनका प्रवेश भी उसमें हो गया। जहां 'पद्मपुराण' जैसे प्राचीन ग्रंथमें ब्राह्मणोंका "सूत्रकण्ठः" कह कर उपहास उड़ाया है वहां उपरान्तके ग्रंथोंमें यज्ञोपवीत धारण करना श्रावकोंका कर्तव्य बतलाया गया है। किन्तु पश्चिम भारतमें रहनेके कारण श्वेताम्बर जैनधर्म पर इन बातोंका कम असर पड़ा मालूम पड़ता है। उनमें यज्ञोपवीत पृथा प्रचलित नहीं है और न उनमें जातिपांतिके भेदकी कट्टरता मौजूद है। अभी हालमें एक जर्मन महिलाको शुद्ध करके श्वेताम्बर समाजमें सम्मिलित किया जा चुका है।

अजैनोंकी शुद्धि। अजैनोंको जैनधर्ममें दीक्षित करनेका प्रयास इस कालमें खूब चालू रहा था। शङ्कराचार्यके बाद जैनधर्मोन्नतिके समय जैनाचार्योंको अपने शिष्य बढ़ानेकी धुन सवार थी। दिगम्बर जैनाचार्य श्री माघनन्दिजीकी तो यह प्रतिज्ञा थी कि वह जब तक प्रतिदिन पांच अजैनोंको श्रावकधर्ममें दीक्षित नहीं करते थे, तब तक आहार नहीं करते थे। 'महाजनवंशमुक्तावली' मे प्रगट है कि "सं० ११७६ में भी जिनवल्लभसूरिने पड़िहार जातिके राजपूत राजाको जैनी बनाकर महाजन (वैश्य) वंशमें शामिल किया था। उसका दीवान जो कायस्थ था वह भी जैनी होकर महाजन हुआ था। खीची राजपूत जो धाड़ा मारते थे, जैनी हुये थे। श्री जिनभद्रसूरिने राठोरवंशी राजपूतोंको जैनी बनाया था। सं० ११६७ में उन्होंने परमारवंशी

राजपूतोंको जैनी बना लिया था। सं० ११९६ में जिनदत्तसूरिने एक यदुवंशी राजाको जैनधर्ममें दीक्षित किया था, जो मांस—मदिरा भक्षक था। सं० ११६८ में सोलंकी राजपूत भी जैनधर्मको ग्रहण कर चुके थे। सं० ११९८ में जैनाचार्यने भाटी राजपूत राजाको भी जैनी किया था। सं० ११८१ में चौहानोंकी २४ जातियां जैनी हुई थीं। दीवान राठी महेश्वरी भी जैनी हुये थे।

श्री नेमिचंद्रसूरिने सं० ११८७ में कितने ही राजपूतोंको जैनी किया था। सं० ११९७में सोनीगरा जातके राजपूत राजाको जैनधर्मानुयायी बनाया था।" नागर वैश्य भी पहले जैनधर्ममें दीक्षित किये जा चुके हैं। परवार जैनी भी इसी समयके लगभग जैनधर्ममें दीक्षित किये गये थे। ऐसे ही अन्य बहुतसे लोगोंको जैनाचार्योंने जैनधर्मकी शरणमें ला बैठाया था। श्री जिनसेनाचार्यने अपने 'आदिपुराण'में स्पष्ट लिखा है कि प्रत्येक मुमुक्षुको जैनधर्मकी दीक्षा देना चाहिये और उसको आजीविकाके अनुसार उसका वर्ण स्थापित करके प्राचीन जैनोंको उसके साथ रोटी—बेटीव्यवहार करना चाहिये।[1] रोटी-बेटीका व्यवहार इस कालमें उच्च वर्णों तक ही सीमित नहीं था; बल्कि शूद्रोंकी कन्यायें ग्रहण करली जाती थी।[2] हाँ प्रतिलोभ विवाहका रिवाज बन्द सा हो गया था। स्वयंवर प्रथाका बाहुल्यतासे प्रचार था। खान—पानके लिये भोज्य शूद्रों तकके यहांका शुद्ध निरामिष भोजन ग्रहण करना अनुचित नहीं समझा जाता था।

१—आदिपुराण पर्व ३९ श्लो० ६१-७१। २—आदिपुराण पर्व ४२। ३—प्रायश्चित समुच्चय पृ० २१२।

यही कारण है कि जैनाचार्य झट अजैनोंको शुद्ध करके अर्थात जैनधर्ममें दीक्षित करके उनके यहां आहार ग्रहण कर लेते थे। जैनधर्मकी व्यवहारिक उपयोगिता भी उस समय नष्ट नहीं हुई थी। राजपूत क्षत्री भी उसे धारण करते हुये अपने जातीय कर्तव्य असि धर्ममें कुछ भी बाधा आनी नहीं पाते थे। सच-मुच जैनधर्म राजनीतिमें बाधक है भी नहीं। आत्मरक्षा अथवा धर्म संरक्षणके लिये शास्त्रविद्याका सीखना उस समय वैश्योंके लिये भी आवश्यक था। इस प्रकार साधारणतः उस समयके जैनधर्मका स्वरूप था।

जैनधर्मकी व्यवहारिक उपयोगिता।